‘साक्षी की खोज’

स्वामी निरंजन

‘साक्षी की खोज’

स्वामी निरंजन

प्रकाशक : **निरंजन बुक् ट्र्स्ट**

{ÛVr` _ÐU : 2008
_ÐU Ed AbH$aU : {Xì` _ÐUr, ^dZída - 2 (C{S>gm) \$mZ : 2340136
àÀN>X àñV{V : {d^
_ë` : **é 50 / -**

सप्रेम सादर समर्पित

परम पूजनीय गुरुदेव वेदान्त केसरी

स्वामी निरंजनजी महाराज

द्वारा रचित इस ***'साक्षी की खोज'*** लघु ग्रन्थ को छपवाकर वेदान्त ज्ञानार्जन हेतु प्रकाशित करवाने का सौभाग्य हमें **'निरंजन बुक् ट्रष्ट'** की ओर से प्राप्त हुआ है, उसके लिये हम आभारी हैं ।

आशा है, ट्रष्ट हमारे इस अनुदान को स्वीकार करते हुए भविष्य में भी इसी प्रकार सेवा का सौभाग्य प्रदान कराते रहेंगे ।

– निवेदक –

श्रीमती गीताञ्जली रथ

बलांगीर

अनुक्रम

क्या ज्ञान कर्म समुच्चय सम्भव है ?

अज्ञान से उत्पन्न कर्मों का, ज्ञान के साथ समुच्चय (युगपद्, सहभाव) उसी प्रकार नहीं हो सकता जिस प्रकार तैजस (प्रकाश) और तिमिर (अन्धकार) का एक साथ रहना सम्भव नहीं हो सकता ।

यदि अनित्य कर्मों द्वारा ही जीव की मुक्ति हो जाती तो फिर मुक्ति प्राप्ति के लिये ज्ञान की कोई उपयोगिता नहीं रहती । कर्माधिकारी की द्वैत एवं देहात्म बुद्धि होने से ज्ञान व कर्म का विराध होता है । क्योंकि कर्म का प्रतिपादन द्वैतभाव बिना नहीं हो सकता जब कि ज्ञान अद्वैत निष्ठा से होता है । अज्ञान का नाश एक मात्र ज्ञान द्वारा ही हो सकता है । अन्य कर्मानुष्ठान द्वारा नहीं हो सकता । कर्म अविद्या का विराधी नहीं होने से कर्म अविद्या की निवृत्ति नहीं कर सकता । जिस प्रकार प्रकाश ही अन्धकार का नाश करता है, उसी प्रकार विद्या ही अविद्या का नाश करती है ।

'अविरोधितया कर्म नाविद्यां विनिवर्तयेत्
विद्याऽविद्यां निहन्त्येव तेजस् तिमिर संगवत्'

आत्म ज्ञान विना मृत्यु का अतिक्रमण नहीं हो सकता ।

'त्वमेव विदित्वाति मृत्युमेति'

आत्मज्ञान से अतिरिक्त अन्य मोक्ष हेतु उपाय नहीं है ।

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'

- श्वेता. उप. : ६/१५

सोऽहम् ज्ञान उत्पन्न होने पर कर्म साधनों की अपेक्षा नहीं रहती। शास्त्रों का यह डिण्डिम घोष है कि ज्ञान से ही कैवल्य प्राप्त होता है।

ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति शास्त्रेषु डिण्डिमः ।
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ॥

- गीता : ५/१६

अज्ञानी व्यक्ति को अन्तःकरण शुद्धि द्वारा ज्ञानोत्पत्ति के लिये कर्मों का अनुष्ठान करना आवश्यक है। किन्तु ब्रह्म जिज्ञासु के लिये कर्म साधन आवश्यक नहीं है। क्योंकि कर्मानुष्ठान का फल ब्रह्म जिज्ञासा तो उसे पूर्व से उदय हो ही चुकी है। यह ब्रह्म जिज्ञासा ही तो उसके चित्त शुद्धि का साक्षात् प्रमाण है। बिना चित्त शुद्धि के ब्रह्म जिज्ञासा, मुक्ति जिज्ञासा उदय ही नहीं होती है।

अभिप्राय यह है कि अभेददर्शी आचार्य के उपदेश और शास्त्र के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से विशुद्ध अन्तःकरण वाले मुमुक्षु की आत्मज्ञान हेतु कर्मों के अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहती।

परीक्ष्य लोकान कर्म चितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नस्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

- मुण्डको. १/२/१२

निष्काम कर्मों के द्वारा जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो चुका है उस उत्तम जिज्ञासु के लिए वेदान्त कर्म करना शेष नहीं रहता है। अन्तःकरण शुद्धि द्वारा ज्ञानोत्पत्ति के लिये अज्ञानी को ही निरन्तर नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करना कर्तव्य रूप है।

वार्तिकार सुरेश्वाचार्य ने व नैष्कर्म्य सिद्धि में यह बात का प्रतिपादन किया है कि ज्ञानियों का तो कर्म करने में अधिकार है ही नहीं किन्तु अज्ञानियों को भी कर्माधिकारित्व का अभाव प्रतिपादित किया है । देह में आत्मबुद्धि होने पर पुरुष वाचिक, मानस और कायिक कर्मों से श्रुति पराधीन रहता है, किन्तु ब्रह्मज्ञान रूपी अग्नि से अखिल कर्माधिकार का दाह होने पर मुनि श्रुति से भी स्वतन्त्र होकर रहता है । कुछ भी बाह्यकर्म धर्म नहीं करना पड़ता है ।

आत्मा को जानने के लिये कुछ पूजा, पाठ, मन्त्र, माला, यज्ञ, योग, कुण्डलनी योग, प्राणायाम, ध्यान, समाधि जो कुछ कर्म काण्ड एवं उपासना आदि साधन किये जाते हैं, यह भगवान को जानने का साधन नहीं है, बल्कि उपरोक्त साधन करने से उसे ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है । अर्थात् सद्गुरु प्राप्ति करने का साधन है भगवत्प्राप्ति के साधन नहीं । भगवान् आत्मा को पाने के साधन तो एक मात्र सद्गुरु द्वारा वेदान्त तत्त्व का श्रवण, मनन, निदिध्यासन ही साधन है ।

अतः जिज्ञासु को चाहिये कि वह आत्मा की उपलब्धि के लिये, आत्मा को जानने के लिये सद्गुरु की शरण में ही जाय । इससे उसे अधिकार प्राप्त करने का साधन भी होगया । फिर ऐसा नियम विधि भी है कि यदि सगुण भगवान् की आराधना नहीं की है तो जिज्ञासु जहाँ पर ब्रह्मविद्या का विवेचन होता है वहाँ पहुँच गया तो वहाँ पर उसे ब्रह्म प्राप्ति का अधिकार भी मिल गया ऐसा जानना चाहिए । फिर सद्गुरु द्वारा तत्त्वमसि महावाक्य का बारम्बार श्रवण करने से अन्तःकरण की शुद्धि भी हो जायगी एवं करोड़ों जन्मों के पाप भी नष्ट हो जाएंगे ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।

- गीता : ४/३७

तद् विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत
समित्पाणि श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।

- गीता : ४/३४

गुरु बिन भव निधि तरई न कोई ।
जो विरंची शंकर सम होई ।।

जीव के मन में स्थित मल का नाशक वेदान्त तत्त्व का श्रवण है, मन के विक्षेप की निवृत्ति का साधन मनन है तथा आवरण दोष की निवृत्ति का साधन निदिध्यासन है ।

अथवा तत्त्वदर्शी नेष्ठिक ब्रह्मदर्शी की सेवा से मुमुक्षु का मल दोष दूर हो जाता है । सद्गुरु के ध्यान द्वारा शिष्य का विक्षेप दोष दूर हो जाता है एवं श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के मुखारविन्द से वेदान्त महावाक्यों के साक्षात्कार द्वारा उत्तम अधिकारी का आवरण दोष दूर हो जाता है । शिष्य को अपने कल्याणार्थ सद्गुरु को पूर्ण समर्पण कर अपने अहंभाव को सर्वथा मन से मिटा देना चाहिये ।

निष्कर्ष यह है कि समस्त कर्म अज्ञान से ही होते है । अतः ज्ञान एवं कर्म समुच्चय उचित नहीं है । सर्व कर्म संन्यास तो ज्ञानार्थ ही होता है । क्योंकि कर्म का फल चाहे जितना बड़ा दीर्घ कालीन ही क्यों न हो किन्तु एक दिन उसका नाश ही होता है ।

आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।

- गीता : ८/१६

कर्म, उपासना से प्राप्त ब्रह्मलोक तक भोगकर वापिस देह धारण कर संसार का दुःख उठाना पड़ता है। किन्तु आत्मज्ञान को प्राप्त होने वाले ज्ञानी को फिर संसार में नहीं आना पड़ता है। '**न स पुनरावर्त्तते**'। इसका मतलब हुआ कि कर्म उपासको का पुनर्जन्म होता ही है। क्योंकि कोई भी कर्म बिना भोगे समाप्त नहीं होता है। '**नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटिशतैरपि**' यह श्रुति भोग द्वारा कर्म का नाश बतला रही है। दूसरी श्रुति कहती है '**ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणी भस्मसात् कुरुते**'। अर्थात् ब्रह्मात्म तत्त्वज्ञान से समस्त संचित् कर्मों का नाश तथा जीवन पर्यन्त साक्षी भाव में रहने से क्रियमाण कर्मों का, किसी प्रकार का सम्बन्ध ज्ञानी के साथ नहीं रहता है।

वायु पुराण में सुखों का वर्णन इस प्रकार बताया है - इन्द्रिय चिन्तक, दश मन्वन्तर, अभिमानिक भौतिक पुरुष सौ मनवन्तर, अभिमानिक एक हजार मनवन्तर, बौद्ध दश हजार मनवन्तर, अव्यक्त चिन्तक एक लाख मनवन्तर दुःख रहित अवस्था में रहते हैं। परन्तु निर्गुण पुरुष अर्थात् तत्त्वज्ञानी का सुख अनन्त होने से उसके सुख की कोई सीमा नहीं है वह आनन्द के असीम सागर में लीन हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं - हे अर्जुन! सब वेद, तीनों गुणों के कार्य रूप इस नश्वर दुःखालय संसार '**अनित्यमसुखं लोकमिमम्**' को ही दिलाने वाले, प्राप्त कराने वाले हैं। इसलिये तू इन नश्वर सुख रहित सांसारिक भोगों की इच्छा न कर असंसारी होजा। अर्थात् निष्कामी और सुख-दुःख द्वन्द्व से रहित नित्य वस्तु आत्मा में स्थित होजा। तू आत्म परायण होने की चेष्टाकर। प्राप्त वस्तु धन, पुत्रादि को सुखी व स्थायी बनाने की चिन्ता न कर। न भविष्य की चिन्ता कर केवल वर्तमान में जी, अर्थात् नाम, रूप जाति, सम्बन्धी का अभिमान त्याग कर केवल आत्म

परायण हो ।

त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।

- गीता : २/४५

जिस प्रकार जल के खोजी मनुष्य को महान जलाशय मिल जाने पर उसे छोट-छोटे, दूर-दूर स्थित जलाशय से किसी प्रकार का प्रयोजन नहीं रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म को आत्म रूप से जानने वाले ब्राह्मण को भी दिव्य आनन्द मिल जाने पर भौतिक सुखों के लिये वेदोक्त कर्म, उपासना से किसी प्रकार का प्रयोजन नहीं रहता है ।

यावनर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानितः ।।

- गीता : २/४६

यह तत्त्वज्ञान रूप ब्रह्मविद्या अन्य समस्त विद्याओं में अतिश्रेष्ठ है । '**अध्यात्मविद्या विद्यानाम्**' जैसे मनुष्यों में राजा श्रेष्ठ होता है, इसी प्रकार ज्ञान सब विद्याओं का राजा तथा दुनियां में जो भी मन्त्र, धन, राज्य रहस्य, गुप्तकर्म, गुप्तअंग है, उनसे भी अधिक गोपनीय यह आत्मज्ञान है । इस ज्ञान के समान त्रैलोक्य में पवित्र कराने वाला अन्य कुछ नहीं है । '**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्र महि विद्यते**' गीता : ४/३८ । यह आत्म ज्ञान उत्तम एवं प्रत्यक्ष फल देने वाला है । अन्य कर्म, उपासना का फल तो कालान्तर में होता है, किन्तु आत्मज्ञान का फल मोक्ष तत्काल विचार काल में ही अग्नि उष्णवत्, सद्यो मोक्ष दिलाता है । अतः यह धर्म युक्त, सभी के लिये साधन करने में भी सुलभ, सुगम, सरल एवं अविनाशी है ।

राजविद्या राज गुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम ।।

- गीता : ९/२

हे आत्मन् ! इन तत्त्वज्ञान रूप आत्म धर्म में श्रद्धा रहित पुरुष सच्चिदानन्द परमात्मा को न पाकर कर्म, उपासना के फल स्वरूप जन्म-मृत्यु रूप संसार चक्र में ही भ्रमण करता रहता है ।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्त मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मानि ।।

- गीता : ९/३

इस ज्ञान को आश्रय करके अर्थात् 'मैं द्रष्टा,साक्षी आत्मा हूँ' इस निष्ठा को धारण करने वाला, सृष्टि के आदि में पुनः उत्पन्न नहीं होता है । '**न स पुनरावर्त्तते**' और देहान्त के समय भी वह देहाध्यास न होने के कारण किंचित भी व्याकुल नहीं होता है ।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गोऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।

- गीता : १४/२

हे आत्मन् ! हजारों मनुष्यों में कोई ही वैराग्यवान ब्रह्मलोक पर्यन्त के सुख की चाह न कर इस अखण्डानन्द आत्म स्वरूप को जानने की इच्छा करता है । इस प्रकार परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा वालों में भी कोई गुरु कृपा पात्र भाग्यशाली इस तत्त्व को आत्म रूप से, मैं रूप से जान पाता है ।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततापि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।।

- गीता : ७/३

ज्ञानीजन सद्गुरु से आत्मज्ञान प्राप्त कर परमात्मा का साक्षात्कार अपने हृदय के साक्षी रूप में अर्थात् सोऽहम् रूप सें सहज कर लेते हैं । किन्तु सद्गुरु की शरण में गये बिना अपने मन कल्पित जप, तप, पूजा, पाठ, तीर्थ, मन्दिर, यज्ञ, याग, कुण्डलनी योग, ध्यान, समाधि आदि अनेक साधन करके उस परमात्मा का आत्म रूप से अनुभव नहीं कर पाते हैं । वे अज्ञानी जन अन्तःकरण शुद्ध न होने से एवं अपने मन कल्पित साधनों को करने से बारम्बार जन्म-मृत्यु को ही प्राप्त होते रहते हैं ।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः ॥

- गीता : १५/१०

यतन्तो योगिनश्चेनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मनो नैनं पश्यन्त्य चेतसः ॥

- गीता : १५/११

हे आत्मन् ! यह आत्म तत्त्व बड़ा गहन है, इसलिये कोई महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है और वैसा ही दूसरा कोई महापुरुष आश्चर्य की तरह इसके तत्त्व को कहता है और दूसरा कोई ही इस आत्म तत्त्व को आश्चर्य से सुनता है और कोई-कोई विरला श्रद्धावान् ही इसे मैं रूप से जानता है । शेष अशुद्ध अन्तःकरण वाले सुनकर भी नहीं समझ पाते हैं ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्मः श्रुणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव किश्चित् ॥

- गीता : २/२९

हे आत्मन् ! बहुत जन्मों के अन्तिम जन्म में यह आत्मज्ञान को जीव किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण ग्रहण कर प्राप्त करता है । जिसके फल स्वरूप सब कुछ एक आत्म ब्रह्म ही अनुभव में आता है ।

फिर उसे पुर्नजन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता है ।

'नेह नानास्ति किंचिन' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'अयमात्मा ब्रह्म' ऐसा ज्ञान कराने वाले सद्गुरु का मिलना भी पृथ्वी पर दुर्लभ है ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

- गीता : ७/१९

•••

किसे खोज रहे हैं ?

खोज उसी पदार्थ की हो सकती है जो पदार्थ एकदेशीय, परिच्छिन्न होता है । खोजने पर वही पदार्थ मिल सकेगा जिसे आपने पहले अपने पास, अपने साथ रखा होगा । जिसे आपने कभी खोया ही नहीं उसे कैसे खोजेंगे एवं वह मिलगा भी कहाँ व कैसे ? सब परिश्रम व्यर्थ होगा । जिस कस्तूरी को मृगने कभी खोया नहीं वह कस्तूरी मृग को सारे जीवन खोजने पर भी नहीं मिल सकेगी, बल्कि खोजते खोजते वह मृग मर ही जावेगा । यदि कस्तूरी उससे दूर होती तो सूंघता सूंघता बाहर कहीं न कहीं खोज ही लेता, लेकिन उसकी नासमझी से ही भटकता रहता है । मृग को कस्तूरी पाने हेतु किसी दिशा में दौड़ने की जरूरत नहीं है । किन्तु किसी बताने वाले की ही जरूरत है जो उस मृग को यथार्थ ज्ञान करादे कि जिसे तू ढूढ़ रहा है वह वस्तु तेरी नाभी में ही है । उस मृग को बस इतनी जानकारी की ही जरूरत है वस्तु की नहीं । कस्तूरी तो उसके पास ही है ।

हे आत्मन् ! साधक, भक्त, योगी जिस परमात्मा को खोज रहे हैं एवं उसे पाने हेतु अनेकों प्रकार के साधन कर रहे हैं उसको तो कभी किसीने खोया ही नहीं । वह तो हमारी श्वाँस-श्वाँस में, दिल की धड़कन में, रक्त

प्रवाह में, आँख खुलने व बन्द होने में निरन्तर विद्यमान है, वह हमसे दूर नहीं है । इसलिए परमात्मा को पाने के लिये किसी प्रकार के साधन करने की जरूरत नहीं है । वह नित्य विद्यमान है ।

हे आत्मन् ! परमात्मा को पाना हिलेरी तेन-सिंग की तरह एवरेस्ट पर्वत पर चढ़ने जैसा या तैर कर समुद्र पार करने जैसा कठिन या असम्भव कार्य नहीं है कि करोड़ों में कोई एक ही कभी पहुँचता होगा । परमात्मा को पाना तो अत्यन्त सहज से भी सहज है । सहज इसलिये कि वह हम से भिन्न नहीं है । भिन्न होता तो कुछ सरल या कठिन प्रयास करना पड़ता, किन्तु जब वह परमात्मा स्वयं ही है तो सरल भी नहीं कहा जा सकता । क्योंकि सरल कार्य में भी कुछ तो साधन करना ही पड़ता है । अत: निश्चय करो कि परमात्मा हमारे ही रूप में सदा से है । देह में द्रष्टा, साक्षी रूप में मिला हुआ ही है एवं प्रत्येक संकल्प करने के पूर्व है । उसके बिना न कोई सकंल्प उठेगा न क्रिया ही हो सकेगी । याद रखें ! क्रिया के बाद, साधन के बाद, ध्यान, समाधि के बाद जो मिलेगा वह अनित्य संसार ही होगा । किन्तु प्रत्येक कर्म के पहले जो है वही परमात्मा हो सकेगा ।

परमात्मा को पाना तो कठिन उन लोगों के लिये है जो सद्गुरु से विमुख हैं । इसीलिए वे भटक रहे हैं । क्योंकि खोजने वाला सदा परमात्मा की तरफ पीठ कर दौड़ रहा है । सूर्य की तरफ पीठकर दौड़ने वाला सूर्य दर्शन कैसे कर सकेगा ? उसे तो सूर्य के सम्मुख होने मात्र की जरूरत है, चलने दौड़ने की नहीं । इसी प्रकार जीव जब सद्गुरु की कृपा से जगत् की तरफ से मुंह को मोड़ परमात्मा के सम्मुख होगा तभी वह साक्षात्कार कर सकेगा । कहा भी है **जगत् आत्म प्राणप्रिय रामा । तासू विमुख किमि लहि विश्रामा ।।** तो क्या करें ?

सन्मुख होहि जीव मोही जबही । जन्म कोटि अघ नाशहु तबही ।।

तब क्या होगा ?

हे आत्मन् ! सागर की मछली सागर में उत्पन्न होती है उसी सागर में जीवन व्यतीत करती है तथा उसी सागर में वह मर जाती है किन्तु मछली को जीवन में जल अथवा सागर का दर्शन नहीं हो पाता है । क्योंकि देखने, जानने हेतु मछली को जल से, सागर से दूरी चाहिये और मछली का जलसे, सागर से किंचित् भी जीवन में दूरी नहीं हो पाती है ।

इसी प्रकार ब्रह्म का अंश जीव ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही रहता है और प्रलयावस्था में ब्रह्म में ही लीन हो जाता है किन्तु यह जीव ब्रह्म को कभी नहीं देख पाता है न जान पाता है । क्योंकि देखने या जानने के लिये जीव की ब्रह्म से दूरी होना जरूरी है । जबकि जीव ब्रह्म से ऐसा अभिन्न है जैसे स्वर्ण से अलंकार । **जीवो ब्रह्मैव ना पर:** यह जीव ब्रह्म ही है ।

मछली को एक क्षण के लिये जल का दर्शन कराया भी जा सकता है । यदि उसे जाल से पकड़ कर जल से बाहर कर बताया जा सकता है कि यह जल है जिसमें तू पैदा होती है, जिसमें तू जीवित रहती है एवं इसी में तू मर जाती है । मगर इसी तरह जीव को ब्रह्म से अलग कर के नहीं दिखाया जा सकता । क्योंकि अलग करते ही जीव स्वयं न रहेगा । जैसे विम्ब के बिना प्रतिविम्ब नहीं दिखाया जा सकता; किसी ने कहा भी है -

लहरी ढूंढे नीर को, कपड़ा ढुंढे सूत ।
जीव ढूंढे ब्रह्म को, तीनों ऊत के ऊत ।। ऊत=मूर्ख

पाया कहे सो बावरा, खोया कहे सो क्रूर ।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों का त्यों भरपूर ।।
सबै खिलोना खांड में,खांड खिलोने माहि ।

तैसे सब जग ब्रह्म में, ब्रह्म जगत् के माहि ॥

जो भी परमात्मा को ढूंढने चलेगा वह किसके द्वारा ढूंढेगा ? मन, बुद्धि के द्वारा एवं जो भी मिलेगा वह मनोवृत्ति के रूप में ही मिलेगा। श्रुति कहती है कि मन के द्वारा जो भी मिलगा वह 'इदम्' रूप में, यह रूप में, भिन्न रूप में ही होगा, वह परमात्मा नहीं होगा। अत: इदम् के रूप में परमात्मा को कभी मत खोजो। इदम् के रूप में, यह के रूप में परमात्मा को देखने की इच्छा मत करो। मनो राज्य को परमात्मा मत समझो। जिससे मन मनन करता है, जिससे बुद्धि निश्चय करती है उस सत्ता को, उस शक्ति को ब्रह्म, आत्मा, याने मैं रूप जानो। दृश्य रूप में, यह रूप में जिसे तुम कह सको, बता सको कि यह परमात्मा है, इस प्रकार दृश्य रूप में परमात्मा की अनुभूति नहीं होती है। मन, बुद्धि और वाणी के अपने कर्म करने एवं न करने को जो साक्षी, द्रष्टा जानता रहता है वह परमात्मा है, वह मैं हूँ।

सबको जानने वाले विज्ञाता को तुम आत्मा रूप जानो। उस विज्ञाता को जानने वाला उससे पृथक् कोई अन्य विज्ञाता नहीं है। जिस परमात्मा की खोज में दुनियां के धार्मिक लोग पागलों की तरह जल, थल, नभ में खोज कर रहे हैं वह परमात्मा तुम्हारा स्वरूप ही है तुम्हारी आत्मा ही है। तुम ही हो तत्त्वमसि।

●●●

साक्षी की खोज कैसे करें ?

आखें बन्द करके दोनों आखों के मध्य में अपनी चेतना को, होश को, दृष्टि को केन्द्रित करो। जैसे तुम अपनी दोनों आंखों को देख रहे हो, उस मध्य के बिन्दु पर पूरा ध्यान दो।

अब अपने मन के विचारों को दौड़ते हुए देखो । तुम साक्षी हो जाओ । यह फिल्म की तरह होगा । विचार दौड़ रहे हैं और तुम एक साक्षी हो । विचार तुम्हारे नहीं है, सब विचार मन के हैं । तुम तो उन चलते हुए विचारों के साक्षी हो ।

लेकिन तुम साक्षी नहीं हो पाते हो । तुम विचारों के साथ एकत्व स्थापित करलेते हो । यदि क्रोध मन में उठा तो तुम उसे उठते देखते हुए भी अपने को उसके साथ एकता बना लेते हो और तुम अपने को क्रोधी मान लेते हो और तुम क्रोधी हो जाते हो । जब कि क्रोध की अग्नि को प्रकट होते हुए एवं शान्त होते हुए तुम देखते रहते हो । क्रोध उठकर शान्त हो जाता है, तुम वहीं रहकर उसके गमनागमन को देखने वाले हो । कोई काम, क्रोध, लोभ, अहंकार का विचार उठता है तो तुम उसके साक्षी नहीं रहते हो । तुम उन विचारों, भावों के साथ एकात्म हो जाते हो और उनको देखते हुए भी अपने को कामी, क्रोधी, लोभी, मोही मान लेते हो । कोई भी चलता हुआ विचार दिखाई पड़े उसी क्षण तुम उससे तादात्म्य करलेते हो । विचार और तुम्हारे बीच, दृश्य और तुम्हारे बीच कोई अन्तर, दूरी प्रतीत नहीं होती है ।

लेकिन दोनों भौंहों के मध्य होश रखने से तुम एक साक्षी हो जाते हो । फिर विचारों को तुम ऐसे ही देख सकोगे जैसे आकाश में बादल दौड़ रहे हैं अथवा सड़क पर लोग चल रहे हैं ।

साक्षी होने का प्रयास करो । जो भी हो रहा है उसमें अच्छे बुरे का चुनाव न करो, केवल साक्षी रहो । तुम बीमार हो, तुम्हारा शरीर दुख रहा है और पीड़ित है, तुम्हारा मन व्याकुल हो रहा है, चंचल हो रहा है । जो भी हो, तुम उसके साक्षी बने रहो । अपने को उस बीमारी, दुःख, चिन्ता, भय से न जोड़ो । उस अवस्था के साथ तादात्म्य मत करो । केवल

साक्षी बने रहो । अब तुम अपने विचारों को, फिल्म चलने की तरह, ट्रेन जाने की तरह, नदी बहने की तरह साक्षात् कर सकते हो । दूसरी सूक्ष्म बात यह होगी कि तुम अब श्वाँस के कोमल स्पन्दन को, स्पर्श को अनुभव कर सकोगे ।

विचारों का अपना कोई जीवन नहीं है । वे परजीवी हैं । वे आपके द्वारा तादात्म्य पर जीते हैं, जो तुमने उनके साथ बना लिया है । जब तुम कहते हो 'मैं क्रोधित हूँ' तो तुम क्रोध में जीवन उर्जा डाल रहे हो । क्योंकि तुम सत्तावान हो एवं क्रोध अस्तित्व हीन है । जब उसके साथ एकत्व बना लिया तो तब निर्जीव क्रोध सत्तावान हो जाता है ।

लेकिन जब आप उस दृश्य क्रोध के साथ एकत्व पैदा नहीं करते हो एवं तुम कहते हो 'मैं क्रोध को मन के पर्दे पर से गुजरते हुए देख रहा हूँ', तो अब तुम क्रोध को कोई जीवन नहीं दे रहे हो । तुम उसे आते-जाते देख पाओगे । क्योंकि तुमने उसके साथ कोई तादात्म्य नहीं किया । यह काम, क्रोधादि वृत्तियाँ बिल्कुल नपुन्सक है । उसका तुम पर कोई प्रभाव नहीं एवं तुम्हारे तादात्म्य किये बिना उनका कोई जीवन नहीं । वह काम, क्रोध आदि बिलकुल मुरदा हैं । वह तुम्हारे तादत्म्य किये बिना तुम्हें प्रभावित नहीं कर पाते हैं ।

अब तुम अपने विचारों के साथ तादात्म्य नहीं बना रहे हो । तुम उन विचारों, वृत्तियों, दृश्यों से हटकर दूर अकेले खड़े हो । तटस्थ हो गये हो । जैसे कि वे किसी और के विचार हैं । तुमने उनसे अपने सम्बन्ध तोड़ लिये हैं । तभी तुम उन्हें देख सकते हो ।

द्रष्टा होने के लिये दृश्य से दूरी का होना आवश्यक है । यदि तुम उस दृश्य के साथ तादात्म्य बनाए हुए हो, एकता बनाए हुए हो तो तुम से उनकी दूरी नहीं हुई वे आंखों की, पलकों की तरह इतने समीप हो जाते हैं

कि तुम उन्हें देख नहीं सकते । यह ऐसे ही है जैसे तुम आंख के समीप दर्पण को कर लो तब तुम दर्पण में अपना चेहरा नहीं देख सकोगे । देखने के लिये एक निश्चित दूरी चाहिये । तभी तुम दर्पण में अपना चेहरा देख सकोगे ।

इसी प्रकार विचारों के साथ भी हमने एकता बना ली तो हम विचारों को देख नहीं सकेंगे, बल्कि हम अपने को वैसा ही मान लेगें । उसी रंग में रंग जाते हो । क्रोध तुम्हें क्रोधित कर देता है । लोभ तुम्हें लोभी बना देता है । काम तुम्हें कामी बना देता है और फिर तुम उसके साथ होकर कहने लग जाते हो मैं बड़ा कामी, मैं बड़ा क्रोधी, मैं लोभी, मैं दुष्ट । ऐसा क्यों हुआ ? क्योंकि इन आगमपायी आने जाने वाले विचार एवं वृत्ति के साथ आपने बिल्कुल दूरी नहीं रखी । वे इतने करीब हो गये कि तुम यह सोचने को बाध्य हो गये कि तुम व तुम्हारे विचार एक हैं ।

द्रष्टा दृश्यत्व की एकता को तोड़ विभाजन कर देता है । फिर वे मिटने लगते हैं, मरने लगते हैं । अब तुम अपने शरीर, विचार, मन, बुद्धि एवं भावों को देखने में समर्थ हो जाते हो । तुम कहते हो की मैं अपने शरीर, विचार एवं भावों को देख पाने में सक्षम होता जा रहा हूँ । यह तुम्हारे आनन्द की, सही मार्ग की पहचान है ।

यदि तुम किसी भी मार्ग पर किसी भी विधि पर चले और वह तुम्हारे लिये आनन्द ले आए, अधिक संवेदनशीलता और अधिक द्रष्टा भाव ले आए और तुम्हें मंगल का भाव दे जाए तो यही एक कसौटी है कि तुम ठीक मार्ग पर चल रहे हो ।

यदि तुम और अधिक दुःखी, क्रोधी, अहंकारी, लोभी, मोहान्ध होते चले आ रहे हो तो जानो कि हमारी साधना, हमारा मार्ग गलत है, हमें इसे शिघ्र बदल लेना चाहिये ।

सही मार्ग पर हमारा आनन्द रोज-रोज अधिक से अधिक विकसित होता चला जाएगा। जो एक अनुभव कर रहे हैं वह इस बात का संकेत है कि तुम सही मार्ग पर हो।

इस प्रकार अपने देह की क्रियाओं को देखते रहने से देह के प्रति तुम्हारा अहंभाव समाप्त हो जाता है। विचारों को देखते- देखते विचारों के प्रति अहंभाव समाप्त हो जाता है एवं भावों को देखते-देखते भावों के प्रति अहं भाव समाप्त हो जाता है। फिर वह ही शेष रह जाता है जो साक्षी है। देह भाव, विचार भाव, भावों में से अहंभाव समाप्त होने पर ही साक्षी में छलांग लगा सकते हैं।

यदि साधक के अहं की डोरी भी देह के साथ बंधगई है तो वह मुक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता। बंधी नौका आगे नहीं जा सकती। साधक की चतुराई इसी बात को देख लेने में है कि उसकी भावधारा किसी देह, विचार एवं चिन्तन से बन्धी तो नहीं है।

'**विमुक्तश्च विमुच्यते**' बन्धन से मुक्त ही मुक्ति के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

साक्षी ही ध्यान है। तुम क्या देख रहे हो, इस बात का कोई मुल्य नहीं है। नदी, पर्वत, पौधा, वृक्ष, हाथी, गधा, कुत्ता, स्त्री, पुरुष कुछ भी देख सकते हो किन्तु उन सबके साक्षी होना ही ध्यान है।

अपनी समग्र चेतना को भीतर की तरफ आंखे बन्द करके केन्द्रित करलो। फिर तुम जान सकोगे। क्योंकि तुम जनाने वाले हो, तुम चैतन्य हो। तुमने अपने इस जानने वाले स्वभाव को कभी खोया नहीं है। तुमने अपने ध्यान को, चेतना को बाहरी हजारों बातों में उलझा रखा था। अब अपनी चेतना को सब ओर से हटा लो उसे स्वयं के भीतर विश्राम लेने दो।

साक्षी ध्यान कर्म का विरोधी नहीं है । ऐसा न समझे कि उसे सीखने हेतु, जानने हेतु तुम्हें कर्म छोड़कर कहीं दूर जंगल, मठ, आश्रम में जाना पड़े । यह साक्षी ध्यान तो तुम्हें नये ढंग से जीवन जीने की कला सिखाता है । चलना, बैठना, खाना, पीना, सोना, सुनना ध्यान हो सकता है, यदि यह सब तुम होश पूर्वक करो । याने साक्षी बनकर इन सभी क्रियाओं को अपने से दूर शरीर व मन पर होते देखते रहो । यदि तुम होश पूर्वक सुनो तो रेड़िओ सुनना, टी.वी. देखना, भोजन करना, पक्षियों की आवाज सुनना भी ध्यान हो सकता है । अपने मन के भीतर चलने वाले विचारों को सुनना भी ध्यान हो सकता है, यदि तुम जाग्रत और साक्षी रह सको ।

ध्यान कुछ और नहीं बस एक उपाय है तुम्हें अपने सच्चे स्वरूप के प्रति सजग करने का । वह तुम्हारा नव निर्माण नहीं है । तुम वह हो ही, उसके साथ ही तुम जन्मे हो । सारा संसार उसी के साथ सब कर्म करते, भोगते एवं मरते हैं । बस उसका स्मरण करना है ।

साक्षी का अर्थ होता है आग्रहशुन्य तटस्थ अवलोकन । यही है ध्यान का पूरा रहस्य । चाहे जो भी तुम करो, साक्षी बने रहो । जो हो रहा है उसका अवलोकन करो । जैसे कि तुम एक दर्शक मात्र हो । मानो कि जो कुछ भी देह, प्राण, मन में घट रहा है वह सब किसी दूसरे व्यक्ति को घट रहा है, तुम उसके साक्षी मात्र हो । देखते हुए तुम चैतन्य स्वयं में केन्द्रित हो । कोई कामना नहीं, केवल अभी और यहाँ बने रहना, शान्त मौन देखते रहना, कि देह, प्राण, इन्द्रिय एवं मन, बुद्धि में क्या हो रहा है ?

हे आत्मन् ! द्रष्टा भाव को साधा जा सकता है किन्तु साक्षी भाव को हम साध नहीं सकते । क्योंकि यह साक्षी हमारा स्वभाव है । यह क्रियासाध्य, साधनसाध्य वृत्ति नहीं है । द्रष्टा को अभ्यास द्वारा साधक साध

लेते हैं । साक्षी यह सहज अग्नि उष्णता की तरह घटता है । साक्षी में द्वैत नहीं है । पूर्ण अद्वैत है । द्रष्टा तुम्हें द्वैत में फंसाता है ।

●●●

क्या साक्षी भाव मन से परे है ?

हम जो भी जानते हैं, जो भी करते हैं, जो भी सोचते हैं वह सर्व चित्त से होगा । अगर आप राम-राम जपते हैं तो जपने की क्रिया मन से होगी । अगर आप मन्दिर में पूजा करते हैं तो पूजा करने की क्रिया मन का भाव होगी । अगर आप कोई ग्रन्थ पढ़ते हैं तो पढ़ने की क्रिया मन की होगी । और आत्मा को जानना हो तो मन के ऊपर जाना होगा । मन की कोई क्रिया मन के ऊपर नहीं ले जा सकती । मन की कोई भी क्रिया मन के भीतर ही रखेगी । स्वाभाविक है कि मन की किसी भी क्रिया से जो मन के पीछे है उस साक्षी से उसका परिचय नहीं हो सकता । तो यह जानलें कि यह जो साक्षी भाव है क्या यह भी मन की क्रिया होगी ? नहीं यह अकेला एक ही क्रिया है जो मन की नहीं है । और वह साक्षी भाव है ।

साक्षी भाव ही मनुष्य को आत्मा में प्रतिष्ठा दे सकता है । क्योंकि वही हमारे जीवन में एक सूत्र है जो मन का नहीं है । माइन्ड का नहीं है । आप रात को स्वप्न देखते हैं । सुबह जागकर पाते हैं कि स्वप्न था और मैंने समझा कि सत्य है । सुबह स्वप्न तो झूठा हो जाता है । लेकिन जिसने स्वप्न देखा था वह झूठ नहीं होता है । उसे आप मानते हैं कि जिसने देखा था वह सत्य है और जो देखा था वह स्वप्न मिथ्या था । आप बच्चे थे, यूवा होगये । बचपन चलागया, युवापन आगया, युवा अवस्था भी चली जायगी, बुढ़ापा आ जायगा लेकिन जिसने बचपन को देखा, युवा अवस्था

को देखा वही बुढ़ापे को भी देखेगा। देखने वाला सदा विद्यमान है, वह न गया न आया। वो मौजूद रहा।

सुख आता है, सुख चला जाता है। दुःख आता है, दुःख चला जाता है। लेकिन जो दुःख को देखता है और सुख को देखता है वह मौजूद बना रहता है।

हमारे भीतर दर्शन की जो क्षमता है वह हर घटना में, हर अवस्था में बनी रहती है। साक्षी का जो भाव है वह जो हमारी देखने की क्षमता है वह बनी रहती है। वह क्षमता हमारे भीतर अविच्छिन्न रूप से अपरिवर्तित रूप से मौजूद है। आप बहुत गहरी नींद में हो जाए तो भी सुबह कहते हैं रात बहुत गहरी नींद आई। रात आनन्द पूर्ण निद्रा हुई। आपके भीतर किसी ने उस निद्रा को भी जाना। आनन्दपूर्ण उस सुषुप्ति को भी जाना। आपके भीतर जानने वाला, देखने वाला जो साक्षी है वह सतत मौजूद है। मन सतत परिवर्तनशील है और साक्षी सतत अपरिवर्तनशील है। इसलिए साक्षी भाव मन का हिस्सा नहीं हो सकता। और फिर मन की भी जो-जो क्रियाएं है उनको भी आप देखते हैं। आपके भीतर विचार चल रहे हैं। आप शान्त बैठ जाएं, आपका विचारों का अनुभव होगा कि वे चल रहे हैं। आपको दिखाई पड़ेंगे। अगर शान्तभाव से देखेंगे तो विचार वैसे ही दिखाई पड़ेंगे, जैसे रास्ते चलते हुए लोग दिखाई पड़ते हैं। फिर अगर विचार शुन्य हो जाऐंगे, विचार शान्त हो जाऐंगे तो यह भी दिखाई पड़ेगा कि विचार शान्त हो गये हैं। विचारशून्य हो गये हैं। रास्ता खाली हो गया है। निश्चित ही जो विचारों को देखता है वह विचार से अलग होगा। वह जो हमारे भीतर देखने वाला तत्त्व है वह हमारी सारी क्रियाओं से, सब से भिन्न और अलग है। जब आप श्वाँस को देखेंगे श्वाँस को देखते रहेंगे। देखते-देखते श्वाँस शान्त होने लगेगी। एक घड़ी आयगी आपको पता ही

नहीं चलेगा की श्वाँस चल रही है या नहीं चल रही है । जब तक श्वाँस चलेगी, तब तक दिखाई पड़ेगा की श्वाँस चल रही है और जब श्वाँस नहीं चलती हुई मालुम पड़ेगी तब भी दिखाई पड़ेगा कि श्वाँस नहीं चल रही है । लेकिन दोनों स्थितियों में देखने वाला साक्षी पीछे खड़ा हुआ है । यह जो विटनेस है । यह जो अभयानन्द से पीछे यह जो बोध का बिन्दु है, यह बिन्दु मन के बाहर है, यह मन की क्रियाओं का हिस्सा नहीं है । क्योंकि मन की क्रियाओं को भी यह जानता है ।

जिसको हम जानते हैं, उससे हम अलग हो जाते हैं । क्योंकि आप अलग हैं ही, नहीं तो आप उसे जान ही नहीं सकते थे । जिसको आप देख रहें हैं उससे आप अलग हैं । क्योंकि जो दिखाई पड़ रहा है वह अलग होगा और जो देख रहा है वह अलग होगा । साक्षी को आप कभी नहीं देख सकते । उसे कौन देखेगा ? जो देखेगा वह आप हो जाएंगे और जो दिखाई पड़ेगा वह अलग हो जाएगा ।

साक्षी आपका स्वरूप है । उसे आप देख नहीं सकते । क्योंकि देखने वाले आप अलग हो जाएंगे तो फिर वही साक्षी होगा जो देख रहा है । जो दृश्य बन जाएगा, आब्जेक्ट बन जाएगा वह फिर आत्मा नहीं रहेगी । साक्षी भाव जो है वह आत्मा में प्रवेश का उपाय है । असल में पूर्ण साक्षी भाव को उपलब्ध हो जाना स्वरूप को उपलब्ध हो जाना है । वह मन की कोई क्रिया नहीं है । और जो भी मन की क्रियाएं हैं वह फिर ध्यान नहीं होगी । इसलिये मैं किसीके स्मरण करने को, किसी चिन्तन करने को ध्यान नहीं कहता हूँ, वह भी मन की क्रिया है । किसी पूजा को, किसी पाठ को, ध्यान नहीं कहता हूँ वह सब मन की क्रियाएँ हैं ।

सिर्फ एक ही आपके भीतर रहस्य का मार्ग है जो मन का नहीं है, जो साक्षी का है । जिस-जिस मात्रा में आपके भीतर साक्षी का भाव गहरा

होता चला जाएगा आप मन के बाहर दिखाई पड़ेंगे । जिस क्षण साक्षी का भाव पूरा प्रतिष्ठित् होगा तो आप पाएंगे मन नहीं है ।

आप जो भी धार्मिक कार्य करते हैं या अधार्मिक कार्य करते हैं तब अन्दर कोई जानता है कि यह सब हो रहा है । यह सब किया जा रहा है । वो जो साक्षी है, तुम्हारे भीतर जो जानता है अगर उसमें प्रतिष्ठिंत हो जाओ तो धर्म है । मन्दिर बनाने में धर्म नहीं है । मन्दिर में पूजा करने में धर्म नहीं है । जप करने में धर्म नहीं है । वह जो मन्दिर के बनाने को भी देखता है और जानता है । पूजा को भी देखता और जानता है । कभी मन्दिर में पूजा करते हुए ध्यान दें तो आपको पता चले कि आप पूजा भी कर रहे हैं और आपके अन्दर एक बिन्दु है जो जान भी रहा है कि पूजा हो रही है, पूजा की जारही है । रास्ते से आप चल भी रहे हैं और आपके भीतर कोई जान भी रहा है कि आप चल भी रहे हैं । वो जो जान रहा है वह आपका आत्यान्तिक रूप से अन्तरस्त केन्द्र है कि वह आपकी इनरमोस्ट, सबसे गहरी स्थिति है । जहाँ आप है, जहाँ आपका स्वरूप है । वहाँ प्रतिष्ठित हो तो धर्म में प्रतिष्ठित हो, बाकी सब अच्छे काम है, धर्म से उनका कोई गहरा सम्बन्ध नहीं है ।

हमारी प्रेजेन्स, हमारी मौजूदगी भीतर नहीं कहीं और है । कोई मन्दिर का चिन्तन करता है, कोई दुकान का चिन्तन कर रहा है, कोई संसार का चिन्तन कर रहा है, कोई मोक्ष का चिन्तन कर रहा है । वहाँ नहीं है जहाँ हम हैं । जहाँ हम हैं अगर वहीं हमारी चेतना की उपस्थिति हो तो आपको बोध होना शुरु हो जाएगा । इसके लिये किसी से पूछने की जरूरत नहीं है, कहीं जाने की जरूरत नहीं है । सब को जीवन मिला है, सबको चेतना मिली है । केवल जीवन व चेतना को जोड़ने की ही बात है । जीवन भी पास है चेतना भी पास है । जैसे किसी आदमी के पास तेल भी हो,

बाती भी हो, माचिस भी हो लेकिन न तेल को बाती से जोड़े न बाती को माचिस से जोड़े और बैठा रोता रहे कि बड़ा घना अन्धकार है तो मैं क्या करूँ ? हम उससे कहते हैं सब तेरे पास है किन्तु संयुक्त नहीं है । महावीर के पास जो था, बुद्ध के पास जो था वह प्रत्येक मनुष्य के पास है । किन्तु जिन्हें जोड़ना आया वे प्रकाश में होगये, जिन्हें जोड़ना नहीं आया जीवन व चेतना को वे दुःखी बने रहते हैं ।

●●●

साक्षी ही बने रहें

सामान्यत: हम साक्षी होते हुए भी साक्षी नहीं रह पाते । हम विचारों के साथ देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि के साथ उनकी क्रियाओं के साथ अपने को शिघ्रता से जोड़ लेते हैं । जब काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार की वृत्ति उठती है तुम उससे तादात्म्य मत करो । दु:ख-सुख, मानापमान, पीड़ा-खुशी जो भी हो उसके साक्षी रहो । तुम विचारों के बादल को, आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की तरह देखते रहो । नदी के तट पर स्थित पानी के बहने को, तट पर होने वाली क्रियाओं को, सड़क पर हो रहे लोगों के आवागमन को जैसे देखते रहते हो, उसी प्रकार अपने सामने होने वाली घटनाओं को केवल देखते रहो । उनसे एकता मत करो, उनको अपना होना, करना न समझो । मन में उठते विचारों के साथ तादात्म्य करके अपने को कामी, क्रोधी, लोभी, मोही मानने की भूल मत करो ।

देह संघात् के द्वारा कर्म होता रहे किन्तु उसमें अंहकार न हो । हमारी एकता कर्म के साथ, उपाधि के साथ, पद के साथ न हो । प्रत्युत साक्षी में हो, आत्मा में हो, अकर्म में हो । अस्तित्व में हो । बीइंग में हो

करने में न हो, डूइंग में न हो, क्रिया में न हो ।

ज्ञानी व्यवहार में तो कहता है कि मैं करता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं सोता हूँ, मैं जाता हूँ किन्तु उसके मन में कर्ता का भाव नहीं रहता, इसलिए ज्ञानी के कर्म भी अकर्म है । ज्ञानी का व्यवहार भी समाधि है । अज्ञानी की समाधि भी विक्षेप है, अकर्म भी कर्म है । क्योंकि उसके मन में कर्मों का भाव है, कर्म में उसका अहंकार है । ज्ञानी की अहंता-ममता भी मुक्ति है । उसके कर्म अकर्म है । वह करते हुए भी नहीं करता है ।

मैं कितना तेजी से दौड़ू मेरे भीतर कोई एक ऐसा तत्त्व है जो एक बाल बराबर भी नहीं दौड़ता । वह अचल ही रहता है । जैसे हवाई जहाज कितनी तेजी से उड़ता है किन्तु यात्री एक कदम भी नहीं चलते है । शरीर के दौड़ने को जो जान रहा है वह साक्षी है । शरीर में बचपन से वृद्धावस्था के बीच अनेक परिवर्तन, रोग, भोग, सुख-दुःख, संयोग-वियोग, लाभ-हानि, मान अपमान की घटना घटी किन्तु भीतर कोई एक ऐसा अचल साक्षी है जिसमें किसी प्रकार परिवर्तन नहीं हुआ वही तुम्हारा होना है । जिसमें परिवर्तन हुआ वह तुम्हारा दृश्य विकारी शरीर है । वह देह तुम नहीं हो ।

मैं उपवास रहूं या भोजन करूँ किन्तु मेरे अन्दर ऐसा तत्त्व है जो बिलकुल कुछ नहीं खाता । वह एक साक्षी मात्र है । वही मैं हूँ । और यह जन्म-मृत्यु, बाल, युवा, स्त्री, पुरुष स्थूल देह के धर्म है । भूख-प्यास, सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष, चंचल-शान्त, सूक्ष्म शरीर के धर्म है तथा अज्ञान यह कारण शरीर के धर्म है । मैं यह तीन शरीर, तीन अवस्था, पंच कोशों से न्यारा साक्षी मात्र हूँ ।

साक्षी तो आप हैं किन्तु साक्षी रहते नहीं । साक्षी भाव में रहने के

लिये एक घंटा प्रतिदिन बैठ जाएं कुछ भी न करें । एक छोटा सा प्रयोग करके देखलो फिर समय बढ़ाते जाना । संकल्प करके बैठ जाऐं कि देह में अथवा देह के प्रति बाहर से जो भी अनुकूल प्रतिकूल, सुख रूप अथवा दुःख रूप, लाभ अथवा हानि रूप घटना घटेगी, मैं उसके साथ तादात्म्य नहीं करूँगा कि मुझे ऐसा हुआ या ऐसा कहा । जो हुआ वह देह, इन्द्रिय, मन में हुआ मैंने तो केवल देखा, जाना । मैं मात्र साक्षी हूँ ।

अब पैर में मच्छर काटे या पीठ पर चींटी चले, मैं उसे केवल जानूंगा हाथ उसे हटावेगा वह भी मैं जानूंगा । किसी भी कर्म में अपने को न जोड़ें । मैं केवल कर्मों के पीछे साक्षी जानने वाला रहूँगा । यदि आप इस अभ्यास को एक माह तक करलें तो जो अनुभव होगा वह एक सौ जन्म में भी नहीं हो सकेगा न गीता पढ़ने से होगा न वेद पढ़ने से होगा ।

सोचलें कि यह घर, सामान, परिवार लोग मेरे नहीं प्रत्युत मैं स्वयं इनके यहाँ अतिथि हूँ । अब मुझे इनके कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं, मैं तो केवल देखने वाला, जानने वाला हूँ । फिर चाहे वे लोग कप-प्लेट, शीशा तोड़े या टी.वी., टेपरेकर्ड चलाए चाहे रोये, चिल्लाये या धूल उड़ाए । किन्तु मैं केवल साक्षी हूँ । बर्तन गिरा, कप-प्लेट टूटे, रोये चिल्लाये मैंने जाना । अन्दर धक्का न पहुँचे । धक्का लगा क्रोध आया तो भी अपने को क्रोध से अलग साक्षी ही जाने । आप अपना सम्बन्ध जानने वाले से ही जोड़ें रहें, होने वाली किसी घटना के साथ अपने को न जोड़ें । ध्यान से उठने के बाद घर वालों से उस एक घंटे की घटना की चर्चा पूछ-ताछ भी न करें । न पति को न पत्नी को, न बच्चे को न नोकर को कुछ कहें कि उस समय तुमने ऐसा क्यों किया था ?

जब शरीर बीमार पड़ा हो, जब शरीर में कहीं दर्द हो, जब स्वस्थ हो, जब सफलता मिले या असफलता हो, जब सुख हो या दुःख हो

तब भी मैं जान रहा हूँ यह भाव को दृढ़ करते चलें। जब कोई सम्मान करे या अपमान करे, निदां करे या स्तुति करे, जब कोई फूल माला गले में डाले अथवा गालियां निकाले, तब भी तुम भीतर से अचल साक्षी रहो।

प्रारम्भ में कठिन लगेगा किन्तु निराश मत होना। मन तो बार-बार देह के साथ जुड़ेगा। पैर में कांटा चुभा, मच्छर ने खाया, चींटी ने काटा तो आप तत्काल समझेंगे कि मुझे चींटी काटी, मुझे दर्द हुआ मगर थोड़े दिन कोशिश करें तो दस बार में एक बार तो अवश्य आप साक्षी रहेंगे, फिर सौ बार में दस बार साक्षी भाव रहेगा। कदम-कदम चलने वाला हजार मील की यात्रा एक दिन कर लेता है। अत: प्रतिदिन एक घंटा बैठ जाएं, कुछ न करे। अनभ्यास का अभ्यास करें। किसी क्रिया, किसी भाव से न जुडें, बस एक ही ख्याल रहे कि मैं जानने वाला हूँ, मैं देखने वाला हूँ मैं इन समस्त घटनाओं से असंग साक्षी मात्र हूँ।

मैं साक्षी हूँ, मैं साक्षी हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, मैं द्रष्टा हूँ इस प्रकार कोई वाक्य मन में, वाणी में भी न दोहरावें, सोऽहं-सोऽहं जप न करें। बल्कि इस भावका अपने दैनिक जीवन में प्रयोग करें। अन्यथा यह तोता रटन की तरह व्यर्थ ही होगा। मैं साक्षी हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, मैं जानने वाला हूँ, मैं देखने वाला हूँ इस मनोभाव को भी मैं जानने वाला हूँ। यह सबसे सरल साधन है केवल करने के लिये दृढ संकल्प की आवश्यकता है। मार्ग बताया जा सकता है किन्तु चलना तो अपने ही पैरों से होगा। यह काम तो आपको ही करना होगा। यदि दूसरे से होता तो बड़े-बड़े दयालु संत, सिद्ध सबका उद्धार स्वयं कर देते उन्हें इतने ग्रन्थ लिखने की, प्रवचन करने की जरूरत न रहती।

हम उसका स्मरण करें जिसको, सब दिखाई पड़ रहा है। जो दिखाई पड़ रहा है उस स्वप्न को, जगत् को भूल जायें और जो भीतर बैठा

है, द्रष्टा, साक्षी उसका स्मरण करें कि वह मैं हूँ। जो जाना गया है, जो देखा गया है वह नश्वर दृश्य संसार है और जो जानने वाला है, जो देखने वाला है वह द्रष्टा, साक्षी परमात्मा है, वही मैं हूँ। जो भी मुझसे देख लिया जायगा वह चाहे व्यक्ति हो या वस्तु, शरीर हो या इन्द्रिय मन हो या बुद्धि सब क्षेत्र है; वह मैं नहीं हूँ इतना निश्चय से जानो। जो भी विचार उठते हैं वह भी क्षेत्र है एक आप ही क्षेत्रज्ञ, सत्य, साक्षी आत्मा है।

जैसे साइकिल, रथ, गाड़ी चलते हैं उसके चाक, पहिये, व्हील अच्छे बुरे सुखे-गीले रास्ते से गुजरते हैं किन्तु चाक के मध्य जो धुरी है, कील है, लोह का मोटा राड है वह किंचित् भी नहीं चलता वह तो मात्र उस रथ के पहिये का साक्षी मात्र है।

यदि तुम अपने को शरीर से एक कर लेते हो तो जन्म-मृत्यु, रोग, कष्ट का अनुभव करते हो। जब तुम अपने को प्राण से एक कर लेते हो तो भूख-प्यास के कष्ट का अनुभव करते हो। जब तुम अपने को मन से एक कर लेते हो तो सुख-दुःख, विचारों, भावों में घिर जाते हो। लेकिन जब तुम इन सबसे अपने को पृथक् असंगात्मा जान लेते हो तो यह देह, प्राण, मन, बुद्धि तुम से दूर पड़े रह जाते हैं और तुम इनके साक्षी रह जाते हो।

जो भी भाव उठे वह मन में उठ रहा है, जो भी कर्म हो वह देह में हो रहा है, मैं सिर्फ दोनों का द्रष्टा हूँ। चूक भी जाएं तो फिर जब याद आए शुरू करदें। ख्याल रहे कि मैं केवल देख रहा हूँ। मैं केवल साक्षी हूँ। मुझे अच्छे-बुरे, पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ का कोई निर्णय नहीं लेना है। मैं सिर्फ देखता रहूँगा। इस अभ्यास से बहुत शिघ्र आप साक्षी भाव में ठहर जाएंगे। मैं न कर्ता हूँ न भोक्ता, मैं केवल साक्षी हूँ। कर्तृत्व प्रकृति का एवं भोक्तृत्व जीवका है और मैं इस प्रकृति एवं पुरुष के मध्य साक्षी हूँ। दोनों

के पीछे जो तीसरा बिन्दु है वही पुरुषोत्तम साक्षी ब्रह्म है, वही मैं हूँ ।

जब यह इन्द्रिय, मन, बुद्धि परमात्मा को नहीं जान ही सकते हैं तो इनको छोड़ो और देखो कि आखिर में कौन बच रहता है जो ब्रह्म को जान सकेगा । तो पता चला कि वह 'मैं' ही हूँ । यह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था आती जाती है, किन्तु इन तीनों में मैं ज्यों का त्यों बना रहता हूँ, यही आत्मा है । इन तीनों अवस्था के बिना भी मैं रहता हूँ किन्तु यह तीनों अवस्था मेरे बिना नहीं है । बस इन तीनों के साक्षी रूप निजात्मा को ही परमात्मा रूप पहचानों ।

•••

साक्षी भाव कैसे लावें ?

हे आत्मन ! जीव को अपने परम लक्ष्य तक पहुँचने हेतु तन की शुद्धि सर्व प्रथम करना होगी । द्वितीय विचार शुद्धि तथा तृतीय भाव शुद्धि करना होगी । जो इन तीनों की शुद्धि कर लेता है वही इन तीनों से परे तीनों के साक्षी निज आत्म ब्रह्म स्वरूप को जान सकता है । इन तीनों की शुद्धि मोक्ष में प्राथमिकता है । यहाँ से केन्द्र पर पहुँचना सहज हो जाता है । जो इन तीनों में या किसी एक में ही रुक जाता है वह परिधि पर ठहरा केन्द्र पर छलांग नहीं लगा सकेगा । यदि यह तीनों शुद्धि जीव प्राप्त कर लेता है तो यह न समझ लेना कि वह ब्रह्मता को उपलब्ध हो गया है । हाँ वह ब्रह्म के सम्बन्ध में तो जान सकेगा किन्तु ब्रह्म के साथ एकता का अनुभव नहीं कर सकेगा । अलौकिक से सम्बन्ध है किन्तु उसका अलौकिक से मिलन नहीं हैं । अलौकिक से एक हो जाना नहीं है । वह परमात्मा के सम्बन्ध में जानना है किन्तु परमात्मा हो जाना नहीं है । शुद्धि की भूमिका परमात्मा के तरफ होने की योग्यता देती है । परमात्मा की तरफ दृष्टि को ले

जाती है। उसके बाद शून्य की दृष्टि परमात्मा से मिलन कराती है। और परमात्मा से एक कर देती है।

पहली परिधि पर हम सत्य के सम्बन्ध में जानते हैं एवं दूसरी छलांग पर हम सत्य से एक हो जाते हैं, उसे हम शून्य कहते हैं। जिस तरह हमने देह शुद्धि, विचार शुद्धि तथा भाव शुद्धि की बात कही उसी तरह अब हम देह की शून्यता, विचारों की शून्यता एवं भावों की शून्यता पर ध्यान देंगे।

देह की शून्यता का मतलब शरीर के साथ मैं भाव का न होना है। तादात्म्यता का तोड़ना है अर्थात् मैं शरीर नहीं हूँ। हमें ऐसा प्रतीत नहीं होता कि हमारा शरीर है प्रत्युत ऐसा सभी को भ्रम होता है कि हम शरीर है। मैं शरीर हूँ यह भाव मिट जावे इस देह के प्रति 'अहं' भाव मिट जाए तो शरीर शून्यता घटित हो जाएगी। अब वह देह के नाम, रूप, जाति, आश्रम, सम्बन्ध, परिणाम एवं जन्म-मृत्यु के भय एवं अहंकार से असंग, साक्षी मात्र रहगया।

जिसका देह से तादात्म्यता का भाव टूट गया अब उसे कोई न हरा सकता है, न डरा सकता है, न अपमानित कर, दुःखी कर सकता है न सम्मानित कर सुखी कर सकता है। क्योंकि वह देह से, मृत्यु से, सुख-दुःख से पार साक्षी में उतर चुका है। जहाँ न सूर्य का ताप एवं प्रकाश पहुँच पाता है न चन्द्रमा की शीतलता न पवन न पानी का ही प्रवेश हो पाता है। उस अभय पद को वह उपलब्ध हो चुका है।

नतत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ॥

-श्वे.उ. ६/१४

एकबार एक ज्ञानी संत को सिकन्दर ने अपने साथ यूनान चलने को बाध्य किया तो संत ने उससे कहा कि मुझे ले जाने की किसी में ताकत नहीं है । सिकन्दर ने कहा- क्या कहा होश में बात करो । देखते नहीं मेरे हाथ में नंगी तलवार है अभी सिर को शरीर से अलग कर दूगाँ । उस संत ने कहा करदो, हम भी देखेंगे कि तुमने सिर को काट गिराया, किन्तु याद रखना ! तुम मुझे तो फिर भी छू नहीं सकोगे । जिस जीवन को, जिस देह को हम छोड़ चुके हैं अब उससे छुड़ाने वाला कोई नहीं है । कोई शूरवीर ताकत के द्वारा दुनियाँ को जीत सकता है किन्तु उसे नहीं जीत सकता है जिसने अपने को जीत लिया है । जिसने देह भाव का त्याग कर दिया अब उसे कौन हरा सकता है ।

ऐ तलवार के भरोसे जीने वाले ! विजय का झन्डा फहराने वाले सिकन्दर तू सिर को अलग करदे और जैसे तू देखेगा कि सिर अलग कर दिया है उसी तरह मैं भी देखूँगा कि इस देह से सिर तूने अलग कर दिया है किन्तु तेरी तलवार मेरा स्पर्श नहीं कर सकेगी । मेरे शरीर का स्पर्श, मेरा स्पर्श नहीं है । जैसे कपड़ों का फटना, मकान का टूटना मेरा फटना, टूटना नहीं है । हम तो केवल दर्शक है यह शरीर तो तेरी तरह मेरा भी दृश्य है । इस भूल में मत रहता कि तू हमारा कुछ बिगाड़ सकेगा ।

जहाँ तक कोई देख सकता है, छू सकता है मान-अपमान कर सकता है, सुख-दुःख पहुँचा सकता है । वहाँ तक हमारा होना नहीं है । जहाँ तक यह समस्त इन्द्रियों की गति है वहाँ तक हमारा होना नहीं है । हमारा होना वहाँ है जहाँ पर शस्त्र, अग्नि, पवन, पानी का प्रवेश नहीं है । वेद जिसे नेति-नेति कहकर चुप हो जाते हैं हम उस नेति-नेति के पार नेति के प्रकाशक हैं । उस अखण्ड सत्ता का बोध और देह भाव का टूट जाना शरीर की शून्यता है । शरीर जितना शुद्धाहारी बना सकते हो उतना ही शिघ्र

देह भाव को तोड़ना आसान हो सकेगा कि मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर शुद्धि परिधि है एवं शरीर शून्यता उसका परिणाम, चरम लक्ष्य है । यह कैसे साधा जाय कि हम शरीर नहीं है ।

सब समय यह बात ध्यान में रखना है कि देह की क्रिया हो रही है मैं देख रहा हूँ। चलते, उठते, बैठते, खाते, पीते, सोते, जागते विचारें कि मैं इन्हें देख रहा हूँ, क्रियाएं शरीर पर घट रही है । देह को चलते, दौड़ते हुए भीतर कोई ऐसा भी है जो नहीं चल रहा है । जो मात्र आपके चलने को, कर्मों के होने को देख रहा है ।

जब हाथ पैरों में दर्द हो, पैरों को चोंट लग गई हो तो होश में आकर देखना कि चोंट आपको लगी है या देह को लगी है ? चोंट आपके देह को लगी और आप चोंट के दर्शक मात्र है । चोंट को जान रहे हैं । जब शरीर पर किसी प्रकार की पीड़ा हो तो सजग होकर देखें कि पीड़ा आपको हो रही है या आपके सिर, पेट, पांव, हाथ को हो रही है ? आप केवल उस दर्द के साक्षी मात्र है । पीड़ा को देखने वाले दर्शक है ।

भूख जब लगे तो स्मरण रखें कि भूख मुझे लगी है या मेरे प्राणों को लगी है ? भूख के कारण मैं व्याकुल हो रहा हूँ या मेरे प्राण व्याकुल हो रहे हैं ? आप तो भूख जगने एवं शान्त होने के मात्र साक्षी है ।

जब कोई खुशी या गम, सुख या दुःख आए तो उसे देखें कि यह मुझे हो रहा है या मेरे मन को हो रहा है, अनुभव करें कि वह घटना कहाँ घटित हो रही है ? जीवन की हर क्रियाओं के प्रति सजग रहे कि वे घटनाएँ कहाँ घट रही है ? मेरे शरीर एवं अवयवों के बाहर एवं अन्दर घट रही है और मैं केवल उन-उन घटनाओं को देखने वाला हूँ ।

हमारी तादात्म्यता की आदत बहुत पुरानी एवं गहरी है । सिनेमा

नाटक को देखते हुए भी, उन-उन दृश्यों को देखते हुए भी भयभित होने, चिल्लाने, हंसने, रोने, क्रोधित होने लग जाते हैं, काम जाग्रत हो जाता है । इसी तरह मनुष्य के शरीर, इन्द्रिय एवं मन पर जो घटित हो रहा है, चेतना उसे यह मुझ पर हो रहा है ऐसा उस दृश्य के साथ तादात्म्य बुद्धि कर सुखी दुःखी होती रहती है । सार बात एक ही है कि हमारा शरीर के साथ तादात्म्य है । सुषुप्ति में समस्त आनन्द का भी एक ही कारण है कि हमारा देह से तादात्म्य टूट जाना है । हमें यह स्मरण आजाए कि हम यह अनात्म शरीर नहीं है । यह देह शून्यता आएगी देह के प्रति सम्यक् निरीक्षण से ।

जब रात्रि को बिस्तर पर सोने के लिये जाएं तो यह जानें कि मैं नहीं मेरी देह सोने के लिये पड़ी है और जब जाग्रत हो तब यही देखें कि मैं नहीं मेरा शरीर गिरा था, वही अब उठा है । नींद मैंने नहीं ली है । नींद केवल मन-बुद्धि ने ली है । विश्राम केवल देह ने लिया है । और जब भोजन करें तो जाने कि भोजन मैनें नहीं किया है पेट में प्राण ने किया है । जब वस्त्र पहने तो जाने कि वस्त्र मैंने नहीं पहने है । वस्त्र मेरी देह को ढक रहे हैं । और जब कोई चोंट करे तो जाने कि चोंट देह पर की गई है और मैं केवल उसे जान रहा हूँ । मुझे तो कोई स्पर्श भी नहीं कर सकता तो चोंट कैसे पहुँचा सकेगा इसभाँति सतत देह से उठकर मैं देह से पृथक् द्रष्टा, साक्षी आत्मा हूँ में जागे ।

जब आप स्वप्न में होते हैं या जब मुर्छा, ध्यान, समाधि, सुषुप्ति में जाते हैं तब आपको अपने देह का होश नहीं रहता है । जब बिस्तर से उठे प्रातः तो शिघ्र मत उठना और विचार करना कि क्या मैं देह हूँ ? तो पता लगेगा कि देह के साथ तादात्म्य जग रहा है । इस देह भाव को तोड़ने के लिये एक ध्यान करने का प्रयास करें ।

अपने को देखें कि मैं मर गया हूँ ? सब रो रहे हैं । जला दिया

गया शव हड्डी फेंक दी गई है। तब एक दम से सजग होकर अपने भीतर देखें क्या हो रहा है ? तब आप अचानक पहली बार जानेंगे कि आप देह नहीं है । तादात्म्य टूट जावेगा । फिर आप चलेंगे खाएंगे, बात करेंगे आप जानेंगे कि आप देह नहीं है। इस अवस्था को शास्त्रों में विदेह कहा है । इसे गीता में कृष्ण अकर्म कहते हैं । बस यह स्मरण रह जाय कि आप देह नहीं है तो यह देह शून्यता घट गयी है। यह देह से एकता का भाव मिट जाना, तादात्म्यता का टूट जाना सब से अद्‌भूत घटना है ।

आपकी सारी भूले एवं पाप देह से बन्धे हुए है आपने जीवन में एक भी भूल, एक भी पाप नहीं किया जो देह भाव से बन्धा न हो । अगर यह तादात्म्य टूट जाय तो फिर आप से जीवन में कोई भी पाप नहीं हो सकेगा। यदि कोई शत्रु तलवार का वार कर दे तो भी आप देखेंगे कि चोंट देह पर पड़ी किन्तु मैं तो असंग, साक्षी कमल के पत्ते की तरह जानने वाला अछुता ही रह जाता हूँ । तब आप स्थितप्रज्ञ की तरह रहेंगे, जीएंगे ।

दूसरा चरण आन्तरिक साधना का है विचार शून्यता । जिस भांति देह के सम्यक् निरीक्षण से देह शून्यता घटित होती है इसी तरह विचार के सम्यक निरीक्षण से विचार शून्यता घटित होती है । विचार की जो धाराएं हमारे चित्त में दौड़ती रहती हैं उन्हें देखना, उनके मात्र निरीक्षक हो जायं । जैसे कोई नदी के किनारे बैठा हो और जल की बहती हुई धारा को देखे, कोई आकाश में उड़ते पक्षियों की कतार को देखे अथवा बादलों को दौड़ते देखे सिर्फ बैठा हो और देखे इसी तरह अपने मन में विचार की तरंगों, विचार के बादलों को, विचारों के उड़ते हुए पक्षियों को, विचार की चलती फिल्मों को देखें। विचारों कि बहती हुई नदी को चुप चाप साक्षी के तट पर खड़े हुए देखता रहे । विचारों को उन्मुक्त छोड़ दे आप चुप बैठ कर देखते रहें। अच्छे विचार को देख न रोकें, न प्रसन्न हों और बुरे विचार को

देख न हटावें, न दुःखी हों । आप कुछ भी न करें केवल साक्षी रहें । कोई रूकावट न डाले, कोई दमन न करें । जो विचार न आता हो तो लावे नहीं, जो विचार अच्छे न लगे उन्हें रोकें नहीं । आप मात्र निरीक्षक ही रहें ।

इन विचारों की निरीक्षणता में मालुम होगा कि विचार अलग है और मैं अलग हूँ । क्योंकि बोध होता है कि जो विचारों को देख रहा है वह स्वयं उन संकल्प विकल्पों से शुभाशुभ विचारों से पृथक् ही है । और जब यह बोध होता है तो यह विचारों की शून्यता घटित हो गई एक अद्भुत शान्ति प्रकट हो जाती है । क्योंकि तब कोई चिन्ता, कोई विचार आपके नहीं है । आप चिन्ताओं के बीच में रहेंगे किन्तु चिन्ता आपकी नहीं है, न आप चिंता है । आप अशान्ति के बीच हो सकते हैं किन्तु अशान्ति आप नहीं है, न अशान्ति आपकी है । आप विचारों के, समस्याओं के बीच हो सकते हैं किन्तु समस्याएं आप नहीं है न वे आपकी है । आप विचारों से घिरे हो सकते हैं किन्तु विचार न आप है न ये विचार आपके हैं । अगर यह होंश आ जाय, यह स्मृति आजाय कि में विचार नहीं हूँ तो विचार शून्यता घटित हो जाती है, विचार निर्जीव होने लगते हैं । विचारों का जीवन इसमें है कि हमारे विचार है । आप यह गलत कहते हैं कि मेरा विचार । कई बार अपने बात के लिये, अपने विचारों के लिये टकरा जाते है लड़ पड़ते हैं । अपने कोई विचार नहीं है । सब विचार आपके दृश्य है । आप विचारों से भिन्न हैं उनके आप द्रष्टा है, निरीक्षक है । इस प्रकार ध्यान करते करते अपने विचार, शून्य हो जाते है एवं सम्मुख व्यक्ति के विचार दिखाई पड़ने लगते हैं ।

एक राजकुमार भिक्षुक हुआ एवं एक घर भिक्षार्थ गया । वहाँ उसके मन इच्छित, भोजन, विश्राम, शैया मिली जैसा भिक्षु मन मे सोच रहा था उस श्रावीका ने वैसा ही किया । तब भिक्षु घबड़ागया कि मेरे मन

में उस श्राविका के प्रति कुछ काम भाव भी जाग्रत हो गया था वह भी उसने अवश्य जान लिये होगें । अब मैं उसके घर पुनः भिक्षा लेने नहीं जाऊँगा ।

लेकिन भगवान बुद्ध के आदेश से वह दूसरी बार गया किन्तु अब जाग कर गया । एक-एक कदम, श्वाँस, विचार, भाव का साक्षी रह कर गया तो उसे पता लगा कि मैं भोजन नहीं कर रहा हूँ भोजन कोई और ही करता है, मैं तो केवल देखने वाला हूँ । जब आप दर्शक बनेंगे अपने ही तो आपके भीतर दो पक्ष हो जाएंगे- एक जो क्रियमाण है, दूसरा वह जो साक्षी है । आपके भीतर दो हिस्से हो जाएंगे- एक जो कर्ता है, दूसरा जो द्रष्टा है । जो कर्ता है कर्मों का करने वाला आप वह नहीं है मगर जो द्रष्टा है कर्मों का, साक्षी है कर्मों का वह आप है । यही बात सभी वेद, उपनिषद, गीता एवं ज्ञानी संत बताते हैं ।

अतः अपने को सचेत करो, अपने भीतर देखो और कुछ मत करो । इतना स्मरण रहे कि अनदेखा कोई विचार न हो, कोई विचार आपकी जानकारी के बिना निकल न जाए । बस इतना ही स्मरण रखें ! तब आपको अपने श्वाँस भी दिखाई पड़ने लगेगी । फिर हाथ पैर का हलन चलन भी दिखाई पड़ने लगेगा । भोजन करते समय हाथ आगे बढ़ेगा मन आदेश देगा कि अब थाली से उठाकर यह खाना है । मुख, दांत, जीभ सब काम करते दिखाई देने लगेंगे जैसे कोई और भोजन कर रहा है, कोई और ही इच्छा कर रहा है और मैं उसे देखता रहता हूँ ।

जब आप दर्शक बनेंगे अपने ही, तब आप के भीतर दो तत्त्व प्रकट हो जाएंगे । एक जो क्रियमाण है और एक जो केवल साक्षी है । आपके भीतर दो हिस्से हो जाएंगे एक जो कर्ता है और एक जो केवल द्रष्टा है । जब इस सजगता से कोई भी काम करेंगे तो लगेगा भोजन कोई और कर रहा है, काम कोई और कर रहा है, मैं तो केवल देख रहा हूँ । वेदान्त

ज्ञान यही कहता है कि जो देख रहा है वह आप है और जो कर रहा है वह आप नहीं है । जब आप सजग हो देखते जाएंगे तो विचार बंद हो जाएंगे । तब मालुम पड़ेगा कि कर्ता अलग है एवं द्रष्टा अलग है । विचारों के, क्रियाओं के द्रष्टा रहना है, साक्षी रहना है । द्रष्टा तो तुम हो ही, साक्षी तो तुम हो ही किन्तु विचारों में, क्रियाओं में, दृश्य में खो जाते हैं । सभी शास्त्रों का फैलाव तुम्हारे द्रष्टा को, साक्षी को प्रकट कराना मात्र है । बस सूत्र तो इतना ही पकड़ने योग्य है ।

उठते, बैठते, सोते, जागते अपने भीतर जो विचार की धारा चलती हो उसे देखें और किसी भी विचार के साथ तादात्म्य न करें । किसी विचार के साथ अपने को न जोड़ें । विचारों से अपने को अलग बचाकर द्रष्टा मात्र जाने ।

अज्ञानी में केवल विचार की धारा होती है, दर्शन की नहीं । सिद्ध में भी एक ही धारा होती है दर्शन की, विचार की नहीं किन्तु साधक में दोनों धारांए होती है विचार एवं दर्शन की ।

हमें विचार से दर्शन तक पहुँचना है जो विचार को देखता है वह विवेक है । विवेक को जाग्रत करें । कैसे जाग्रत होगा विवेक ? स्मरण पूर्वक विचार को देखने से ।

शरीर की क्रियाओं को देखेंगे शरीर के प्रति शून्यता जग जाएगी, तादात्म्य टूट जावेगा, देह में अहं भाव छूट जायगा और विचारों को देखेंगे तो विचार शून्यता घट जायगी फिर विचारों से तादात्म्य टूट जाएगा ।

अगर भावों का निरीक्षण करेंगे तो भाव शून्यता घट जाएगी । जो प्रेमभाव, घृणाभाव कर रहा है उसके भी पीछे एक तत्त्व है जो केवल जान रहा है जो न घृणा करता है न प्रेम, वो केवल साक्षी है उसने देखा था

कि कभी घृणा की गई थी अभी प्रेम किया जारहा है लेकिन वह केवल साक्षी है, जो तुम हो ।

जब मैं किसी से झूठ कहता हूँ, धोखा देता हूँ, घृणा करता हूँ, प्यार करता हूँ तो भीतर कोई है जो वह यह जान रहा है कि झूठ, घृणा, अश्रद्धा या प्यार का अभिनय चल रहा है जिसे सब घटनाओं का, विचारों का, संकल्पों का, वृत्तियों का पता चलता है वह सबसे पीछे है । वही हमारी आत्मा है, वही हमारा होना है । न वह देह है, न प्राण है, न इन्द्रिय है, न विचार है, न भाव है वह कुछ भी नहीं है । इसीलिये वेद कहता है नेति नेति । 'स्व' के अलावा जहाँ कुछ भी नहीं शेष रह जाता है वही वह दर्शन, द्रष्टा, साक्षी चेतन हमारा स्वरूप है । वही आत्मा, परमात्मा है । यही हम है ।

उदय व अस्त इन दो भावों की धारा के प्रति द्रष्टा का बोध रखना है । शेष में उसी को बचा रखना है जो केवल है । सभी साधनों का चरम लक्ष यही आत्मा है ।

देहकी क्रियाओं का, विचार की प्रक्रियाओं का, भावों की अन्तरंग धाराओं का सम्यक् निरीक्षण ही मुख्य साधन है । इन तीनों पर्दों को हटाकर एकबार जो साक्षी को पकड़ लेता है उसे परमधाम मिल गया जो इन किसी तीन में से किसी एक में बंधा रहता है वह लक्ष्य पर नहीं जा सकेगा ।

नौका को किनारे से बिना छोड़े कितना भी मल्लाह चलाता रहे वह वहीं खड़ी रहेगी । इसी प्रकार यदि हमारी चेतना, बुद्धि देहभाव, विचार एवं भावों से बन्धी रहेगी तो हम परमात्मा को उपलब्ध नहीं हो सकेंगे । हम परमानन्द का अनुभव नहीं कर सकेंगे । किसी प्रकार उन्नती नहीं होगी । आपकी चेतना की नाव को देखें कि वह कहाँ बन्धी है । यदि

आपकी चेतना की नाव देह से बन्धी है, विचार से बन्धी है, भाव से बन्धी है तो यह नशा है और इस नशे में आप चाहे जितनी-नाव चलावें, साधन भजन अनन्त जन्मों तक करते रहें, बन्धन से मुक्त नहीं हो सकेंगे। लेकिन जब आप किसी सद्गुरु के वचन अमृत का पान कर होश में आयेंगे तो पता चलेगा कि मेरा अनन्त जन्मों का साधन सब व्यर्थ ही चला गया क्योंकि हमारी चेतना की नाव तो किनारे पर ही बंधी खड़ी है। हम वहीं बन्धे खड़े हैं जहाँ हमने चलना शुरू किया था। तब भूल समझ आयगी कि हम नाव को खोलना ही भूल गये थे।

मान्यता स्वीकार कर लेना सरल है किन्तु मान्यता से छूट जाना बड़ा कठिन है। नाम, जाति, सम्बन्ध, पद, आश्रम के अभिमान से छूटना, मान्यता से मुक्त होना बड़ा कठिन है।

जीवन की धारा में नाव को खोल लेना बहुत कठिन है नाव खुल जावे तो सद्गुरु के वचन रूप हवांए वहा ले जायगी। जो किनारा है, जो परमधाम है, जहाँ से पुनः लौटना नहीं पड़ता।

सम्यक् निरीक्षण मुर्छा को हटाकर होश में लाना है। इसे स्मरण रखे यह सर्वाधिक महत्व पूर्ण सूत्र है। इसका सतत प्रयोग करें।

तीन शुद्धियों से तीन शून्यता आजावे, तीनों तादात्म्य टूट जावें तो परिणाम में समाधि है। समाधि द्वार है सत्य का, परमात्मा का, स्वयं का, जो साक्षी भाव में जागता है उसका देह भाव एवं संसार में सत्यता का भाव मिट जाता है। फिर सब क्रियाओं में एक अकर्म, आत्मा, चिन्मय ही समाया हुआ दिखाई पड़ेगा। संसार की सत्यता मिट कर परमात्मा प्रकट हो जायगा। जब दिखाई पड़ता है तब स्रष्टा ही सृष्टि रूप में विद्यमान है। स्वयं बनाने वाला ही यह सृष्टि रूप में, संसार में, एक परमात्मा ही व्याप्त है। परमात्मा खोजने से नहीं मिलता। परमात्मा का बोध होते ही संसार का

विसर्जन हो जाता है । **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** । यहाँ एक ब्रह्म के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है ।

स्वयं को जान लेना उतना कठिन नहीं जितना दूसरे को जानने में कठिनाईयाँ है । क्योंकि स्वयं को तो आप साक्षी हैं ही । सूर्य से क्या सूर्य अपरिचित रह सकेगा ?

सत्य को बिना जाने, मरने वाला मनुष्य आत्म हत्यारा है । वह चोर एवं चाण्डाल है । अतः मन में निश्चय करें कि स्वयं को जान कर रहूँगा उसके लिये मुझे जो भी कुर्बानी देना पड़े, कठिनाई झेलना पड़े उसे सहूँगा किन्तु सत्य को जाने बिना यह प्राण नहीं छूटे यही मेरी अभिलाषा है । हे गुरुदेव ! इसे आप पूरी करने में मदद करें, मैं आपकी भली प्रकार से शरण में हूँ ।

●●●

द्रष्टा की खोज

द्रष्टा होने के लिए दृश्य से कम या ज्यादा दूरी का होना बहुत जरूरी है । यदि आप उस दृश्य के साथ तादात्म्य बना लेते हैं तो उसके व आपके बीच की दूरी समाप्त हो गई फिर वह दृश्य आपको निश्चित दुःखी-सुखी करेगा । अब तुम उन क्रिया के, वृत्ति के, काम, क्रोध आदि के द्रष्टा नहीं रहे । यदि द्रष्टा भाव बनाये रखेंगे तो वह दृश्य से एकत्व तोड़ देगा । आप से दृश्य के बीच दूरी पैदा करा देगा । फिर आप उन समस्त घटनाओं से अप्रभावित रहेंगे जो आपके सम्मुख घट रही हैं ।

द्रष्टा होना तुम्हारे स्वरूप को निखारना है जैसे स्वर्ण को तपाने से

स्वर्ण में रहे मैल कट जाते हैं एवं स्वर्ण पूर्वापेक्षा अधिक चमकने लगता है । अत: तुम द्रष्टा भाव को अपने जीवन के प्रति साध सको तो अपने मुक्ति हेतु, कल्याण हेतु, आत्म साक्षात्कार हेतु इतना ही पर्याप्त है । द्रष्टा होने के अलवा सभी स्वाँग, साधन पाखण्ड मात्र है, ऊपरी चाल चलन है । अत: दिखावा ढोंग से बचो । ये दण्ड, कमण्डलु, कंठी, माला, तिलक, दाढ़ी, जटा, भस्मी, राम नाम अथवा अन्य नाम की चादर, शरीर के अंगों पर राम नाम लिखवाना या राम नाम लिख लिखकर रखना यह सब पाखण्ड की रचना है । न अखंड पाठ से मुक्ति होगी, न अखण्ड दीपक से होगी, न अखण्ड यज्ञ से कुछ होगा, न अखण्ड जाप से कल्याण होगा । यदि द्रष्टा भाव जीवन के प्रति, क्रियाओं के प्रति, वृत्तियों के प्रति साधलिया तो और साधन की जरूरत नहीं है । अन्य सभी साधन बुद्धि को जड़ बनाने हेतु ही है । मूर्ख व्यक्ति सब समय मुख से नाम जप करता रहता है तो मुर्खों की दुनियां में वह परम सिद्ध कहला जाता है ।

अपने में द्रष्टा को खोज लेना सबसे बड़ी साधना है । द्रष्टा भाव अध्यात्म में सबसे बड़ी सिद्धि है । क्योंकि तुम्हारे भीतर जो द्रष्टा है वह तुम्हारी आत्मा है, वह तुम हो । तुम्हारा द्रष्टा अन्य देवता नहीं है । तुम्ही समस्त देवों के देव हो । तुम्हारे भीतर का द्रष्टा अमृत्व है ।

व्यक्ति सारे जीवन दूसरों को ही दृश्य रूप में देखता रहता है किन्तु अपने सबसे समीप रहने वाले शरीर, प्राण, इन्द्रिय, क्रिया एवं मन, बुद्धि की अवस्थाओं का कभी द्रष्टा नहीं बन पाता । अपने देह संघात् के लिये कभी द्रष्टा रहने का होश नहीं आता । एक क्षण भी दृश्य में फंस कर अपने द्रष्टा स्वरूप को मत भूलो । एक क्षण भी बेहोशी में मत गुजारो । द्रष्टा भाव द्वारा प्रत्येक क्रिया को देखते हुए दृढ करते चलो । चाहे चींटी काटे या मच्छर कान के पास ध्वनी करे । चाहे हाथ उठे या आँख दाँये

बाँये घूमें आप द्रष्टा रहें आपके होश में क्रिया हो बेहोशी में नहीं होने पावे, द्रष्टापना के बिना कोई छोटी से छोटी क्रिया भी न हो । छींक आने जा रही है या अपान वायु निकलने वाली है द्रष्टा के होश में हो कि मैं जान रहा हूँ । उठते, बैठते, खाते, पीते, सोते, जागते, चलते, काम करते हुए द्रष्टा रहें । फिर मन के द्रष्टा बने । फिर बुद्धि के विचारों के द्रष्टा बने । फिर भावों के द्रष्टा बनो फिर अनुभवों के द्रष्टा बनो । द्रष्टा होना ही मूल धर्म है ।

लेकिन लोग बस दूसरों को खाते, पीते, उठते, बैठते, चलते, काम, क्रोध, लोभ तथा अहंकार युक्त देखने में ही अपनी कुशलता, चतुराई, होशियारी समझते हैं । स्वयं को देखने की किसी को होश नहीं है कि मैं भी तो इसी प्रकार अपने शरीर की क्रियाओं का द्रष्टा हूँ । दूसरा व्यक्ति क्या पहन रहा है वह कैसे लग रहा है इसी क्रिया को उलट देना है । दूसरों से दृष्टि को हटाकर स्वयं पर ले आना है । स्वयं की दृष्टि को आन्तरिक अनुभूतियों विचारों और भावदशाओं की ओर करना है और अन्ततः स्वयं द्रष्टा होकर ही रहना है ।

आत्म ज्ञानी के देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी अपने-अपने कर्म करते रहते हैं किन्तु वह समस्त कर्मों से अपने को असंग, साक्षी, द्रष्टा रूप में जानता रहता है । यह कर्मों में अकर्म को देखना है । अकर्म द्रष्टा आत्मा को ही कहते हैं जो मैं स्वयं हूँ ।

शरीर दृश्य है जहाँ समस्त घटना घटती है, तुम उन घटनाओं के देखने वाले, जानने वाले द्रष्टा हो । यदि यह एक छोटासा सुत्र जीवन के प्रति फलित हो जाए, स्मरण में रह जाए तो फिर तुम धर्म की चिन्ता अन्य साधना की चिन्ता छोड़ दो । सब धर्म, कर्म, वेद, पुराण, गीता, बाइबिल, कुरान, ग्रन्थ साहब आपके लिये अब व्यर्थ हो गये । जैसे नदी पार कर जाने पर नौका, रोग मुक्त हो जाने पर औषध व्यर्थ ही हो जाती है । क्योंकि

समस्त शास्त्रों का इतना ही प्रयोजन था कि तुम देह नहीं हो, तुम एक जानने, देखने वाले हो । जब तुम्हें यह द्रष्टा भाव सिद्ध होगया, जब तुम स्वस्थ हो गये तो अब तुम्हारे लिये सब साधन सब औषध व्यर्थ है । सब फेंकने, छोड़ने योग्य है ।

बस एक छोटा सा सूत्र स्मृति में रह जावे कि जो घट रहा है वह देह, प्राण और मन में घटित हो रहा है और मैं जान रहा हूँ, मैं साक्षी हूँ, मैं द्रष्टा हूँ । मुझ असंगात्मा में कुछ नहीं घट रहा है । यह द्रष्टा रूप सूत्र समस्त धर्म का सार है । इस सूत्र को छोड़कर सभी धर्म, शास्त्र, विधि, विधान, नियम आदि असार है ।

संत महात्मा श्रोताओं को समझाते हैं श्रोता सुन कर रट लेते हैं कि हम द्रष्टा, साक्षी, आत्मा है । लेकिन जबतक इसका अपने जीवन के प्रति, हर अवस्थाओं के प्रति प्रयोग नहीं करेंगे तबतक इस द्रष्टा, साक्षी, आत्मा रूप महा उपदेश का केवल तोता रटन से कुछ काम नहीं बनेगा । अत: जब भी मोका मिले खाते, पीते, सोते, जागते, चलते, उठते, बैठते, राग-द्वेष, काम, क्रोध, अहंकार के अवसर पर समझें कि यह सब हो रहा है और मैं इन सब घटनाओं को जान रहा हूँ । छोटी-बड़ी जो भी देह में घटना घटे उसे दृश्य करके जानते रहें । जब भी कोई घटना क्षेत्र में घटे आप क्षेत्रज्ञ अपने को अलग जानते रहें । रोग आवे या भोग, दुःख आवे या सुख, मान मिले या अपमान, गाली सुने या प्रशंसा बस मैं देख रहा हूँ । इस बोध को जाग्रत करने के लिये कोई ध्यान, समाधि, प्राणायाम, कुण्डलनी जाग्रति, जपादि की जरूरत नहीं । न संन्यास लेने की, न हिमालय जाने की जरूरत है । जहाँ हैं, जैसे हैं, वहीं ज्ञाता को ज्ञेय से, द्रष्टा को दृश्य से, प्रमाता को प्रमेय से, कर्ता-भोक्ता जीव से साक्षी निजात्म स्वरूप को अलग देखने की चेष्टा करें । प्रथक तो है ही केवल देह के साथ तादात्म्यता

से स्वयं द्रष्टा, साक्षी, आत्मा अपने को दृश्य शरीर, क्षेत्र, ज्ञेय, प्रमेय रूप जानता है ।

जब आपके अन्दर यह दृश्य, साक्ष्य से द्रष्टा, साक्षी भाव के अलगाव का बोध जाग्रत हो जाएगा तब बिना प्रयास के निरन्तर देख पाएंगे कि आप यह दृश्य शरीर से, इसमें होने वाली घटनाओं से एक कदम पीछे हैं । छोटी-छोटी बातों से अभ्यास बढ़ाते चलें । चाहे वह मूत्र, मल का त्याग हो या भुख-प्यास हो, अपने को पृथक् ही जानते रहें तो फिर आप मौत जैसी भयानक अवस्था को भी एक पुराने वस्त्र के त्यागने जैसा ही अनुभव कर सकेंगे । आप जानेंगे कि मृत्यु देह में घटित हो रही है या मृत व्यक्ति जन्मने जारहा है । ज्ञानी का तो पुनर्जन्म होता ही नहीं है । किन्तु ज्ञानी किसी दूसरे की मौत को या अपने शरीर की मृत्यु भी एक साधारण अनिवार्य जीवन पद्धति ही जानता है । जैसे जन्म के बाद किशोर, युवा, प्रोढ, वृद्धावस्था होती है उसी प्रकार वृद्धावस्था मृत्यु को एवं मृत्यु पुनः बच्चे रूप में बूढ़े को अवतरित करने, जन्म दिलाने जा रही है ।

देखा जाता है कि लोग अनुभव में उतारने जैसे महत्वपूर्ण महावाक्यों को रटते-रटते उसके अर्थ को ही भूल जाते हैं कि 'द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हम' यह हमें सद्‌गुरु ने देह संघात् के दुःख एवं कर्मों से तादात्म्य तोड़ने के लिये एवं अपने सत्य स्वरूप का स्मरण करने हेतु सिखाया था । सत्संग में उनका स्वरूप पूछने पर '**कस त्वम्**' ? तब वे तत्काल उत्तर तो दे देते हैं कि '**द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हम**' । जन्म-मरण, पिता-माता, पति-पन्ती, पुत्र-पुत्री, नाम, रूप, जाति-आश्रम, गुरु शिष्य, हिन्दु, ब्राह्मण, उड़ीया, मारवाड़ी सब देह के, भूख प्यास प्राणों को एवं सुख दुख मन का धर्म है । यह भी रटलेते हैं कि हम जड़ नहीं चेतन, दृश्य नहीं द्रष्टा, शब नहीं शिव, मृत नहीं अमृत, परप्रकाश नहीं स्वयंप्रकाश, बद्ध नहीं मुक्त, कर्ता

नहीं साक्षी, जीव नहीं 'ब्रह्म' है ।

लेकिन सत्संग में दो घंटे का रटा हुआ '**द्रष्टा साक्षी आत्मा हम्**' भाव व्यावहारिक जीवन में उतरते ही भूल जाते हैं । सत्संग से उठते ही 'हाय! मुझे धक्का दे दिया,' 'हाय ! मेरी चप्पल कौन चुरा ले गया', 'हाय ! मेरा बेटा', हाय ! मेरी अटैची' आदि के संग को पकड़ लेते हैं । अब कहाँ गया वह सत्संग ? फिर अधिकांश मन की चंचलता के लिये दुःखी है । तो कुछ लोग द्रष्टा भाव सदा नहीं रहता, साक्षी भाव सदा नहीं रहता इसके लिये दुःखी बने रहते हैं ।

अरे भाई ! जब तुम द्रष्टा, साक्षी असंगात्मा हो तो किसी भी शरीर इन्द्रिय, मन एवं वृत्तियों के पीछे दुःखी क्यों हो रहे हो ? तुमतो वृत्तियों के प्रकाशक साक्षी हो । वृत्ति में अहंकार जब तक रहेगा कि मेरी ऐसी वृत्ति सदा बनी रहे तब तक वह सदा दुःखी रहेगा; क्योंकि वृत्ति सदा एक समान किसी की भी नहीं रह सकेगी और बोलते हैं कि '**मनो बुद्धि अहंकार चित्तानिनाहं**' ।

वह जानने वाले को धीरे धीरे सब कर्मों से निखार कर अलग करते जाएं । जैसे दही मन्थन करके मक्खन निकालते हैं । स्वर्ण तपाकर मैल जला शुद्धकर लेते हैं । तिल, मूगं, चावल, पोशत आदि को पानी से धोकर मिट्टी कंकड़ अलग कर देते हैं । धोबी कपड़े को साबुन, सोड़ा लगाकर कूट, पटक पका सुखा कर शुद्ध बना देता है । मूर्त्तिकार छेनी हथौड़े से काष्ठ, पत्थर को छील कर इच्छित मूर्त्ति प्रकट कर देता है । ऐसे ही सबके जानने वाले द्रष्टा, साक्षी को, जो जो साक्ष्य, दृश्य, ज्ञेय, प्रमेयादि जाना जाता है उससे अलग करते जाएं । एक दिन आपमें और उस दृश्य में दूरी स्पष्ट दिखाई पड़ने लगेगी । जहाँ से घटनाएं देखी जाती है, शब्द सुने जाते हैं वह अनुभोक्ता आप समस्त अनुभव में आने वाली घटनाओं से

अलग ही झलक पड़ेंगे । जहाँ घटना घट रही है वह अपना दृश्य शरीर अन्य शरीर की तरह बिल्कुल अलग ही दिखाई पड़ेगा । वह जो भीतर से जान रहा है क्षेत्रज्ञ एवं जो विषयों की ओर जारहा है वह मन दोनों एक आत्मा ही है । इन्द्रियों में मन एवं शरीरों में क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ । ऐसा वचन परमात्मा श्रीकृष्ण का है । '**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**'।

•••

परमधाम कहाँ है ?

गुरुओं, विभूतियों, अवतारों, देवी, देवताओं से तुम इतने प्रभावित हो कि भूल ही जाते हो कि अभी तुम्हें एक कदम और आगे उठाना है । इन्हें सेतु, सीढ़ी, माइल स्टोन ऐरो - तो बनाया जा सकता है किन्तु यह तुम्हारा अन्तिम पड़ाव नहीं है, यह मंजिल परमधाम नहीं है । गुरुओं, विभूतियों, चमत्कारों, ज्योति ध्यान, कुण्डलनी, समाधि पर रुकना नहीं । यह सब परमात्मा की तरफ चलने का प्रारम्भ है परमात्मा पर पहुँचना अन्तिम है । गुरु सेतु है पुल है परमात्मा व संसार के बीच । मगर सेतु पर ही घर बना लिया व आगे न बढ़े तो परमात्मा तक नहीं पहुँच सकेंगे । सेतु से पार हो जाना है यही प्रयोजन सेतु का है पार होने के लिये ही सेतु की आवश्यकता है । इसलिए सच्चे गुरु तुम्हें अपने पास देर तक रखने नहीं देगें । सद्गुरु तुम्हें आगे एक कदम और बढ़ाने के लिये धक्का देगा ताकि तुम परमात्मा को प्राप्त कर सको । भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा कि यदि मैं भी तुम्हारे व परमात्मा के बीच आजांऊ तो मुझे भी रास्ते से हटा देना । मेरे भी टुकड़े कर देना । जैसे कि रामकृष्ण परमंहस ने ध्यान में काली के टुकड़े कर रास्ते से हटा दिया था ।

परमात्मा कोई व्यक्ति नहीं है । समग्रता की एक संज्ञा है । जैसे

पौधों की समग्रता का नाम बगीचा, मकानों की समग्रता का नाम ग्राम, वृक्षों की समग्रता का नाम जंगल है, मनुष्यों की समग्रता का नाम संसार है इसी प्रकार चराचर प्राणियों की समग्रता का नाम परमात्मा है । अस्तु तुम परमात्मा से भिन्न नहीं हो या परमात्मा तुम से भिन्न नहीं है । क्या बगीचा पौधों से, ग्राम मकानों से, जगंल वृक्षों से, संसार मनुष्यों से, कभी कहीं बाहर, पृथक् खोजने, देखने को मिल सकेगा ? कभी नहीं । ग्राम व मकान, पौधा व बगीचा, वृक्ष व जंगल जैसे दो नहीं इसी तरह जीवों से परमात्मा या परमात्मा से जीव भिन्न नहीं है ।

परमात्मा कोई भी एक प्रकार का होता शुभ, सुन्दर, सर्व गुण सम्पन्न, सर्वशक्ति समर्थ अथवा अशुभ, कुरूप, गुण हीन, असमर्थ, अल्पशक्ति वाला तो पहचानना कठिन नहीं होता । किन्तु उसकी समग्रता ही पहचान होने में अड़चन पैदा कर रही है; क्योंकि शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, मृत-अमृत, दानी-चोर, दयावान-क्रुर, जीवन-मृत्यु, धार्मिक-अधार्मिक, इमानदार-बेइमान, विश्वासी-अविश्वासी, सेठ-नौकर, सती-वैश्या, सदाचारी-दुराचारी, रंक-राजा, दुर्बल-बलवान, पण्डित-मुर्ख वह परमात्मा ही यह सब है । यह विरोधाभास परमात्मा में होने से कैसे उसको पहचाना जाय ? यदि सुन्दर, गुणवान, बलवान, पवित्र, अमृत आनन्द, ज्ञान, सत, चेतन, परमात्मा है तो फिर प्रश्न होगा कि असुन्दर, मुर्ख, कमजोर, अपवित्र, मृत, दुःख राक्षस कौन है ? जबकि वेद कहता है '**एकमेवाद्वितीयब्रह्म**' '**नेह नानास्ति किंचिन**' यहाँ एकब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है । अन्य मानना भी पाप है । जहाँ पुष्प है वही कांटे भी है दोनों को एक पौधा धारण करता है । इसी प्रकार परमात्मा सभी प्रकार के लोगों को धारण करता है । तभी एक अखण्ड अद्वैत सिद्धान्त सिद्ध हो सकेगा ।

पदार्थों की तरह लोगों की तरह, स्थानों की तरह क्या तुम्हारा परमात्मा भी तुम से दूर पराया है ? क्या तुम से बाहर है, जिसकी तुम खोज में निकल पड़े हो ? वह परमात्मा तुम्हारे भीतर तुम्हारा स्वभाव है । परमात्मा, मुक्ति कोई प्राप्त करने योग्य अन्य पदार्थ नहीं है । **'कस्तूरी कुण्डल बसे, मृग ढूंढे बन माही'** की तरह अज्ञानता से जीव भटक रहा है ।

तुम भी मृगकी तरह जन्मों-जन्मों से दौड़ रहे हो । अब दौड़ बन्द करो । स्वरूप ज्ञान होने का इतना ही अर्थ है कि तुम जो हो उस में रम जाओ । कहीं जाना नहीं है, कुछ होना, बढना, पाना नहीं है । रुक जाओ । ठहरते ही वह मिल जाएगा जिसके लिये चारों ओर दौड़ रहे थे । जहाँ जाना चाहते थे वह मंजिल तुम हो । किन्तु दौड़ रहे थे इसीलिये नहीं मिल रहा था ।

हे आत्मन ! स्वभाव धर्म है । तुम जो हो उसे स्वीकार कर लेना धर्म है । न तुम्हें त्यागी होना है, न ध्यानी होना है, न साधु होना है, न तुम्हें साधन करना है । जहाँ वह साक्षत् है वहाँ तो कोई खोज नहीं रहा है एवं जहाँ वह साक्षात् रूप नहीं वहाँ उसे खोज रहे हो । अपने में ठहर जाओ तो तत्काल मिल जाएगा किन्तु तुम्हें फुरसत कहाँ रुककर अपने में देखने की ।

हे आत्मन् ! जैसे जिस कस्तूरी की तलाश में मृग जंगलों में भटक रहा है, तुम स्वयं उसी परमात्मा को साथ लिये दौड़ रहे हो ।

तुम न क्रोध हो न काम हो, न लोभ हो न अहंकार । यह तुम्हारे चारों तरफ होगें लेकिन तुम यह नहीं हो । तुम केन्द्र हो यह सब घटना परिधि पर, देह संघात् में घट रही है और तुम इन सबके साक्षी केन्द्र बिन्दु हो । तुम पर कोई भी घटना घटित नहीं हो सकेगी । तुम तो वह हो जो

जानता है कि क्रोध आया, जो जानता है कि अब क्रोध की ज्वाला शान्त हो गई, काम वासना शान्त हो गई । भूख-प्यास लगी एवं शान्त हो गई । जो यह सब जानता है वह तुम हो । किन्तु तुमने अपने को वह मान लिया जो तुम्हारे सामने काम, क्रोध, लोभ, मोह, भूख-प्यास, सुख-दुःख की घटना घटित हुई । लेकिन यह सब कर्म धर्म तुम्हारा स्वभाव नहीं है । तुम तो केवल देखने वाले हो यह सब काम, क्रोध, लोभादि तो तुम्हारे बहुत समीप है इसलिए इनकी झाँई तुम्हारे अन्दर पड़ती है और तुम्हारी झाई इन में पड़ती है । निकटता से ही परस्पर तादात्म्यता प्रतीत होती है ।

तुम्हारे अहंकार के गिरने में ही उसका अवतरण है । तुम्हारे मिटने में ही उसका होना है । परमात्मा मिला हुआ ही है । बर्फ का मिटना ही जलका होना है । बर्फ को जल सदा मिला हुआ ही है । बर्फ को अपने होने की अकड़ ही जल की विस्मृति है । जीव से परमात्मा भिन्न नहीं हैं । जीव भाव गिरा कि परमात्मा हीं है । तुम्हारे व परमात्मा के बीच का फासला नहीं है अगर कोई दूरी है या देरी है तो वह तुम्हारे अहंकार से है ।

आत्मा अस्तित्व का नाम है । उस अस्तित्व में उठी एक नाम, रूपी लहर को 'मैं' कहते हैं । जिसे लोग भूल से अपना होना पहचान रहे हैं । यह देह रूप लहर उठी है तो एक समय नष्ट भी होगी । चाहे शस्त्र से, अग्नि से, पवन अथवा पानी से यह नष्ट तो होगा । किन्तु आत्मा का इस देह रूपी लहर से कोई लेना देना नहीं । कोई सम्बन्ध नहीं । इस नकली मैं, बदलने वाले मैं को छोड़कर जो शेष रह जाता है वही असली मैं है, वही आत्मा है । वही तम्हारा होना है । आत्मा, मन, बुद्धि, वाणी के द्वारा नहीं जाना जाता है, क्योंकि आत्मा इन इन्द्रियों के प्रकाशक रूप इनके पीछे हैं । वह जो सबके पीछे है आप है । जहाँ से चिन्तन, मनन जाना जाता है वह आप हैं ।

हे आत्मन् ! परमात्मा साधन साध्य वस्तु नहीं है । जो मनुष्य के साधन द्वारा, क्रिया द्वारा निर्मित होगा, प्राप्त होगा, वह परमात्मा नहीं हो सकेगा । एक दिन वह नष्ट हो ही जाएगा । जिसका नव निर्माण होगा एक दिन वह पुराना होगा एवं अवश्य गिरेगा । जिसका कन्सट्रक्शन होगा उसका एक दिन डिस्ट्रक्शन भी निश्चत होगा ।

परमात्मा की खोज करना है तो उसे खोजो जो हमारा बनाया हुआ नहीं है । परमात्मा की खोज उन स्थानों पर मत करो जो मन्दिर, मस्जिद्, मूर्त्ति, चित्र मनुष्य द्वारा निर्मित हुए है । जो चित्र मूर्तियाँ मनुष्य के द्वारा बनाये गये हैं । वहाँ वर्षों से तुम उनके पास जारहे हो कुछ भी नहीं हुआ और हजारों वर्षों तक भी वहां जाते रहने से कुछ नहीं होगा । परमात्मा की खोज करना है तो उस मन्दिर की खोज करो जो परमात्मा का ही बनाया हुआ हैं एवं परमात्मा उसी में रहता है । देह रूप मन्दिर में रहने वाला पुरुष ही आत्म ब्रह्म है जिसे किसी ने नहीं बनाया है ।

हे आत्मन् ! परमात्मा को इन चर्म चक्षुओं द्वारा नहीं देखा जा सकेगा । यदि सद्गुरु से आँख मिल जावे, ज्ञान चक्षु खुल जावे, विचार नेत्र मिल जावे तो फिर जिधर भी देखो उस के अलावा अन्य कोई यहाँ नहीं है । सब जगह, सब रूप में, वह है तभी तो अखण्ड कहलाता है । वह है तो समग्र अन्यथा वह कहीं नहीं । एक वृक्ष के पास, पशु के पास, व्यक्ति के पास बैठे तो परमात्मा के पास ही बैठे हो । पौधे के पास, नौकर के पास, ग्राहक के पास, रोगी के पास खड़े हो तो परमात्मा के पास ही खड़े हो । चान्द सूरज को देख रहे हो, नदी को देख रहे हो, पुष्प को खिलते देख रहे हो तो यह सब दर्शन उस अव्यक्त के ही पदार्थों व व्यक्तियों के आकार में हो रहे हैं ।

जो वस्तु नित्य प्राप्त है और वह हम ही है या हमारे पास है फिर

भी हम उसे नहीं पहचान रहे हैं तो हमे कोई ऐसा व्यक्ति चाहिये जो हमारा हम से या हमारे ही अन्दर रखी वस्तु से परिचय करा सके। प्राप्त वस्तु की जानकारी करने हेतु हमें किसी प्रकार के कर्म काण्ड करने की जरूरत नहीं है। न योगाभ्यास करना है, न ध्यान लगाना है, न समाधि लगाना है। न अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की तरह साधन करने की जरूरत है।

परमात्मा की प्राप्ति को कभी दुर्लभ मत समझो। उसे अत्यन्त सहज सुलभ जाने। यदि यह बात समझ में आजाए कि वह अखण्ड है तो वह किसी से दूर नहीं हो सकता है। तब वह किसी को भी अप्राप्य नहीं रह सकेगा। यदि हम उसे मनुष्य जीवन में कठिन कह देगें तो क्या परमात्मा की प्राप्ति, ज्ञान की प्राप्ति फिर पशु, पक्षियों के लिये सरल व सुलभ हो सकेगी ? उसे कठिन समझ कर अपने से पृथक मत मानो। परमात्मा है तो आज है, अभी है, यहाँ है और वह तुम हो। कल जो भी होगा, कालान्तर में जो होगा, देशान्तर पर जो मिलेगा वह सब नश्वर संसार होगा। साधन साध्य परमात्मा नहीं होगा परमात्मा स्वयं सिद्ध, नित्य प्राप्त सबका अपना ही स्वरूप है।

●●●

हमारे दुःखों का कारण

दुनिया में दो तरह के मार्ग है। एकमार्ग है मैं कुछ हूँ। दूसरा मार्ग है, मैं क्या हूँ ? मै कौन हूँ ? अज्ञानी, मैं कुछ हूँ पर यात्रा करता है। धार्मिक आदमी वह है तो यह जानने की इच्छा करता है कि मैं कौन हूँ ? अन्त में वह पाता है कि मैं तो है ही नहीं। और जो इस खोज पर निकलता है कि मैं कुछ हूँ वह खोजते खोजते संग्रह करते-करते जीवन गवां देता है

। वह कुछ हूँ तो हो नहीं पाता और यह भी जानने से वंचित् रह जाता है कि मैं क्या था ? मैं कौन हूँ ?

क्या कभी आपने अपने दुःखों के पीछे झांककर देखा है ? क्या कभी अपनी पीड़ा, अशान्ति, चिंता और अपमान के पीछे कभी खोजा है ? वहाँ मिलेगा केवल अहंकार । खोजने पर मिलेगा मैं । सारी चोंट सारे आघात लगते हैं मेरे 'मैं' पर, अपने मैं के अहंकार पर और मैं तिलमिलाता हूँ । सुरक्षा की व्यवस्था करता हूँ कि कोई चोंट न पहुँचा सके । और मैं निरन्तर इसभांति जीवन व्यतीत करने की कोशिश करता हूँ कि मेरा यह मैं फूले फले ।

लेकिन अहंकार के वृक्ष पर दुःख, चिन्ताओं और पीड़ा के अतिरिक्त कोई फल नहीं लगते, नहीं लगेंगे । वह अहंकार के बीज में ही दुःख की सम्भावनाएं है । पीड़ा की, चिंता की, अपमान की, क्रोध की, युद्ध की, हिंसा की, घृणा की । वहीं सारी सम्भावनाएं एकट्ठी है । और बड़े मजे की बात यह है कि हम बिना सोचे कि मैं कौन हूँ निरन्तर कहे जाते हैं कि मैं हूँ, मैं हूँ, मैं कुछ हूँ । बिना यह जाने कि मैं कौन हूँ ?

व्यक्ति सारे जीवन मैं कुछ हूँ इस ख्याल की जिस बात से पुष्टि मिलती है उसी बात को करने में जीवन व्यतीत कर देता है । और अन्त में जब मौत आती है तो सब अहंकार बहा ले जाती है । समस्त अहंकार जो सारे जीवन में इकट्ठा किया था वह बिखर जाता है ।

जिदंगी भर जिस अहंकार का हम पोषण करते हैं अन्त में पाते हैं कि वह अहंकार मिट्टी में पड़ा है और उस पर लोग पैर रखकर चल रहे हैं । अहंकार धूल बनकर, धुंवा बनकर उड़गया, राख होकर मिट्टी में मिल गया । अब खोजने से उसका कहीं कोई पता नहीं है । जिस जगह हम बैठे हैं न मालुम कितने लोग दफनाए गये हैं । हर स्थान पर कब्रस्थान है । जमीन का

कोई हिस्सा खाली नहीं जहाँ करोड़ों करोड़ों लोग भस्मीभूत न हुए हों । जमीन पर कोई हिस्सा ऐसा खाली नहीं है जो मरघट न हो ।

जमीन में व्यक्ति कितने प्रकार के अहंकार का संग्रह करता है । उस अहंकार को पाने के लिये, उसे सुरक्षित रखने के लिये कितने प्रकार के कष्ट झेले होंगे । संघर्ष किये होंगे, कितनी हिंसा की होगी । कितने दुःख व सुख के सपने देखे होंगे । कितने राते खो दी होंगी । नींद खो दी होगी और जीवन गंवा दिया होगा । वे सब लोग आज कहाँ है ? क्या जीवन भर जिन्होंने अहंकार की पीड़ा झेली हो, क्या उन्हें कोई शान्ति और आनन्द का अनुभव हो पाया होगा ? क्या उन्होंने कोई सत्य जान पाया होगा ?

इस विश्व की विराटता को हम अनुभव करें और फिर उसके सामने अपने को खड़ा करें । तो हमारा अहंकार भस्मी भूत हो जाता है । हम कहाँ रह जाते हैं ? यह पृथ्वी बहुत छोटी सी है, हमारा सूरज इस पृथ्वी से साठ हजार गुना बड़ा है । कोई दो अरब सूरज जान लिये गये हैं । और जिस सूरज को हम जानते हैं यह उनमें सबसे छोटा है । प्रत्येक सूरज का अपना विस्तार है और ये दो अरव सूरज की समाप्ति नहीं है और भी इससे आगे विश्व होगा, उसके आगे विस्तार होगा । इस अनन्त विश्व के एक छोटे से पृथ्वी के कोने पर वह भी कोई बहुत बड़ी संख्या नहीं है मनुष्य की । कोई साढ़े तीन अरब उसकी संख्या है । अगर हम और प्राणियों की संख्या के हिसाब से इस मनुष्य पर विचार करेंगे तो पाएंगे वह कभी नहीं है । क्योंकि और भी छोटे-छोटे प्राणी है, उनकी संख्या अनन्त है । उसमें सब से छोटी संख्या का यह मनुष्य है ।

मनुष्य का यह जो ह्युमन कार्नर है, यह छोटा सा कोना है इस जगत में उस कोने में हम न मालुम क्या अपने को समझ बैठें है । न मालुम क्या अपने को मान बैठें हैं ।

यह मनुष्य कोई ७०, ८०, ९०, १०० बर्ष का जीवन इस अनन्त विश्व में क्या स्थान रखता है ? कोई कीमत नहीं । समुद्र की एक बुंद के समान इस अनन्त विश्व में मानव जीवन है । इतने कम क्षणों में मनुष्य जी लेता है । स्पेस के ख्याल से भी मनुष्य ना कुछ है एवं समय के ख्याल से भी मनुष्य ना कुछ है ।

धार्मिक व्यक्ति मैं उसे समझता हूँ जो अपने इस नाकुछ होने के अनुभव को उपलब्ध हो जाता है । धार्मिक व्यक्ति मैं उसे समझता हूँ जो अपनी इस नथिंगनेस को, इस ना कुछ होने का अनुभव कर लेता है । किन्तु धार्मिक व्यक्ति तो घोषणा करता है कि मैं संन्यासी हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं चतुर्वेदी हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं त्यागी हूँ, मैं यह हूँ, मैं वह हूँ । मैं ब्रह्म हूँ, मैं मुक्त हूँ । अहं ब्रह्मास्मि, मैं आत्मा हूँ, मैं द्रष्टा हूँ इत्यादि । जिस दिन तुम्हें यह ना-कुछ होने का अनुभव हो जाता है, उसी दिन जीवन के अमृत के द्वार खुलजाते हैं । लेकिन यह हमें पता लगाना कठिन है; क्योंकि हम मनुष्यों के बीच जीते हैं हम सबको भ्रम एकसा है । हम एक दूसरे के भ्रम के पोषक होते चले जाते हैं ।

दुनियां में दो तरह की चीजे हैं । एक वह जिनकी सत्ता होती है और एक वह जिनकी कोई सत्ता नहीं है । आत्मा की तो सत्ता है किन्तु अहंकार की कोई सत्ता नहीं है । जो लोग कहते हैं कि अहंकार को छोड़ो वे भूल में हैं; क्योंकि जो छोड़ने को कहते हैं वे यह मान लेते है कि अहंकार कुछ है । जो नहीं है वस्तुतः उसे छोड़ने में हम जीवन नष्ट कर देते हैं । जो नहीं है उसे छोड़ेंगे कैसे ? आत्मबोध के बिना अहंकार को छोड़ने की चेष्टा इस प्रकार है जैसे कोई अन्धकार को बिना प्रकाश के दूर करने जैसा असफल प्रयास है । अन्धकार व अहंकार दोनों एक जैसी चीज है । लेकिन जो है ही नहीं उससे कैसे जीतेंगे ? कैसे हरायेंगे ? उसे कैसे मिटायेगें

?

दुनिया में दो तरह के अंहकारी है । एक जो धन को, पद को, शक्ति को, सम्पत्ति को खोजते हैं । दूसरे वह जो धन का त्याग, पद का त्याग, सम्पत्ति का त्याग, मान का त्याग करने में लगे रहते हैं । वे कम सोते हैं, कम खाते हैं, नंगे पैर चलते हैं, अपरिग्रही होने का प्रयास करते हैं । धन को स्पर्श नहीं करते हैं । ये दोनों प्रकार के लोग अति पर हैं । दोनों अपने-अपने ग्रहण-त्याग में अहंकारी है । इन दोनों अति से भिन्न एक तीसरा भी मार्ग है वह है मध्य का मार्ग, साक्षी का मार्ग, द्रष्टा का मार्ग । ये दोनों अतियाँ है अहंकार की, ये दोनों अहंकार है । एक तीसरी भी जीवन दिशा है और एक तीसरा भी अनुभव है जो न तो अहंकार को भरने का है और न छोड़ने का । जो इस सत्य को जानने का है कि अहंकार कुछ है ही नहीं, था ही नहीं । जो अहंकार से भरा रहेगा वह परमात्मा से, सत्य से खाली रह जायगा । वह परमात्मा निरन्तर द्वार पर खड़ा है किन्तु हम भीतर सोये पड़े है । अहंकार निद्रा है । जीवन तो जागरण है । बाहर हम जागते है, भीतर हम सोए हुए हैं । बाहर भी पूरे नहीं जाग रहे हैं । बाहर भी एक विचारधारा नहीं चलती है लहर की तरह एक पर एक विचार चले आते हैं । अभी सुनते-सुनते, पढ़ते-पढ़ते काम करते करते कोई दूसरा चिन्तन भीतर खड़ा हो जाता होगा ।

यह हमारी भीतरी निद्रा है । उसने हमें स्वयं से वंचित् किया है । और स्वयं वंचित् होने की स्थिति में हमने एक काल्पनिक व्यक्तित्व अपना खड़ा कर लिया है कि मैं यह हूँ । मैं वह हूँ । मेरे पास पद है तो मै यह हूँ । मेरे पास डिग्री है तो मैं यह हूँ । मेरे पास यह है तो मैं यह हूँ । आत्मा का तो हमें कोई पता नहीं है कि मैं कौन हूँ ? इसलिए हमने यह हूँ, वह हूँ के वस्त्र ओढ़लिए हैं । और उनको कोई सद्गुरु खींचकर उतारकर यदि हमें हमारे

वास्तविक स्वरूप को दिखाना चाहता है तो हम उस पर नाराज हो जाते हैं। क्योंकि वस्त्र हट जाने से झूठे अहंकार गिर जाएंगे फिर वे अपने को यह हूँ ऐसा नहीं कह सकेंगे । इसलिये अहंकार रूपी वस्त्र को खूब कसकर, सम्भाल कर पकड़ रखा है ।

मैं नहीं कहता हूँ कि अहंकार का छोड़ो । यह भूल भरी शिक्षा है । उस शिक्षा ने हजारों लोगों को भटकाया है । तो मैं कहता हूँ छोड़ना मत बल्कि जो सत्य है उसे खोजना । अहंकार से भागना मत जागना । जागते ही वह नहीं पाया जाता है । जैसे प्रकाश होते ही अन्धकार नहीं पाया जाता है । अन्धकार की कोई सत्ता ही नहीं हैं । इसी तरह आत्मा का बोध न होना ही अहंकार है एवं आत्मा का होश होना ही अहंकार का विलय है । हमारी अनुपस्थिति का परिणाम ही अहंकार है ।

मैं कौन हूँ ? धर्म की सारी खोज का यह जिज्ञासा ही आधार है । इसे जानने के लिये न शास्त्रों की जरूरत है, न योग की, न भक्ति की, न कर्मानुष्ठान की, बल्कि भीतर जागने की । जीवन में जो भीतर बाहर घटित हो रहा है उसे होश पूर्वक देखने की । जैसे-जैसे आप प्रत्येक क्रिया के प्रति जागे हुए हो जाएंगे समस्त बाहरी अहंकार विलीन हो जाएगा । शरीर के तलपर जागते रहना कि क्या हो रहा है ? जगत के तलपर जागना कि वहाँ बाहर क्या हो रहा है ? भीतर मन के तल पर जागना कि वहाँ क्या चल रहा है ? और जो व्यक्ति इन शरीर, बाह्य जगत एवं मन के तलपर जागने के श्रम में संलग्न हो जाता है, धीरे-धीरे उसके भीतर एक ज्योती जगनी शुरु हो जाती है जो हर चीज को देखती है । जैसे-जैसे वह जागता है वैसे-वैसे उसका अहंकार सबसे पहले विलीन हो जाता है ।

श्वाँस ले रहा हूँ यह कहना गलत है । यदि श्वाँस लेना आपके हाथ में है तो रोकलो श्वाँस को । नहीं रोक सकेंगे । श्वाँस लेना आपके

हाथ में होता तो फिर मृत्यु द्वार पर खड़ी रहेगी आप श्वाँस लिए चले जाएंगे । वह नहीं ले जा सकेगी ।

कहते हैं भूख मुझे लगी, मुझे प्यास लगी । जीवन में घटनाए घटती है । भूख-प्यास लगती है । लेकिन व्यक्ति उन घटनाओं के साथ अपने को जोड़ लेता है कि मुझे भूख लगी, मूझे प्यास लगी । जवानी आती है लोग कहते हैं अब मैं जवान हो गया, अब मैं बूढ़ा हो गया । क्या यह भी कोई हाथ की बात है कि मैं पास होगया, मैं फैल हो गया । इसी तरह क्या हमने अपने को प्रयास कर जवान बनाया है । यदि जवानी हमारे हाथ की बात होती तो बुढ़ापा कभी नहीं आने देते । जन्म हमारे हाथ की बात होती तो मृत्यु कभी नहीं आने देते । लेकिन हम सारी चीजों को मैं से जोड़ते हैं और एक झूठे मैं को खड़ा करने लगते हैं । जो कभी भी नहीं था, न है, न कभी होगा ।

ज्ञानी शास्त्रों से सीख लेता है कि आत्मा है, परमात्मा है, भक्त कल्पना करता है कि परमात्मा है लेकिन वह परमात्मा झूठा है । जब समस्त अहंकार विलीन हो जाता है तब जो पाता है वही सत्य है, वही परमात्मा है । न वह मान से मिलता है न भक्ति से लेकिन वह मिलता है स्वयं के अहंकार के न रहने पर । स्वयं का अहंकार जब नहीं रहता है तब वह मिलता है । जो स्वयं के अहंकार से भरे हैं वे उससे वंचित रह जाता हैं ।

हम कुछ भी नहीं है, यह बोध हमारा गहरा से गहरा हो जाना चाहिये । यह बोध हमारा निरन्तर तीव्र से तीव्र होता जाना चाहिये कि मैं कुछ नहीं हूँ । किन्तु मैं कुछ भी नहीं हूँ ऐसा सोचने की जरूरत भी नहीं है । मृत्यु हर श्वाँस में खबर देती है कि मैं कुछ नहीं हूँ ।

भोक्ता होना पीड़ा है । साक्षी होना परम आनन्द है । हम साक्षी नहीं रह पाते हैं, हम भोक्ता हो जाते हैं । साक्षी को हम नरक में भी देखेंगे तो वह दुःखी नहीं होगा और भोक्ता को स्वर्ग में भी देखेंगे तो वह दुःखी ही पाया जायगा । भोगी सदा अपेक्षा में जीता है । जो भी उसे मिल जाए उसमें सन्तुष्ट नहीं रहता है । उसे कम मालुम पड़ता है । भोगी हर जगह दुःखी होगा । साक्षी को दुःखी करना असम्भव है । साक्षी से सुख छीनना असम्भव है ।

साक्षी का पहला लक्षण है जो भी घटना घटती है, वह उससे अपने को पृथक् मानता है । जो भी घट रहा है वह उससे अपने बीच फासला देखता रहता है । वह जानता है कि मैं सिर्फ देखने वाला हूँ । यदि दुःख घट रहा है तो भी वह दुःख का देखने वाला है । वह दुःख के साथ एक नहीं होता । और जबतक आप किसी घटना से जुड़ते नहीं तब तक आपको दुःख दुःखित नहीं कर सकता ।

साक्षी का दूसरा लक्षण है उसे जो भी मिल जाए उसके लिये वह अनुगृहित होता है । वह उसे परमात्मा की अनुकम्पा मानता है । क्योंकि साक्षी कर्ता तो बनता नहीं इसलिये वह ऐसा नहीं कहता है कि मैंने किया इसलिये मुझे मिला । यह सदा जानता है कि मैं कुछ नहीं करता मैं केवल देखने वाला हूँ । इसलिये जो भी हो जाए, जो भी मिल जाए वह परमात्मा की अनुकम्पा है । जिसकी कोई अपेक्षा नहीं उसे आप कभी दुःखी नहीं कर सकते । उसे कभी दुःखी नहीं देख सकते । अपेक्षा से भरा चित्त निश्चित दुःखी होता है । हजारों की आशा रखने वाला पांचसो मिलने पर दुःखी निश्चित होगा ।

मकड़ी जैसे अपने चारों तरफ जाल फैलाती है भोक्ता इसी प्रकार अपने चारों तरफ दुःख की रचना करता है । किन्तु साक्षी पुरुष अपने चारों

तरफ सुख ही सुख का सागर देखता है ।

मैं आत्मा हूँ यह बारम्बार बोलने कहने की बात नहीं । आत्म स्मरण कोई मानसिक प्रक्रिया नहीं है । ऐसा अनुभव करो कि 'मैं हूँ' । 'मैं हूँ' इन शब्दों का भी जाप नहीं बस अनुभव करो । खाते-पीते, चलते स्मरण रखो कि तुम हो । अपने होने को महसूस करो ।

●●●

अनाशिनो अप्रमेयस्य

यह समस्त नाम, रूप जगत प्रमेय कहलाता है । प्रमेय पदार्थ होता है जो इन्द्रिय द्वारा प्रमाणित किया जाता है । जगत में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह पांच विषय है जिन्हें प्रमेय कहा जाता है । इन पाचों विषयों के ज्ञानार्थ हमारे पास पंच ज्ञान इन्द्रिय है । श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण । शब्द को श्रोत्र इन्द्रिय प्रमाणित करती है । इसी प्रकार स्पर्श विषय त्वचा इन्द्रिय द्वारा जाना जाता है । रूप विषय को चक्षु इन्द्रिय दिखादेती है । रस विषय को जिह्वा द्वारा जाना जाता है तथा गन्ध विषय को घ्राण इन्द्रिय द्वारा जाना जाता है । यहाँ तक के पांचों विषय संसार क्षेत्र के अर्न्तगत आते हैं ।

गो गोचर जहं लगी मन जाई । सो सब माया जानहूँ भाई ।

परमात्मा अप्रमेय कहा जाता है । अप्रमेय उस सत्ता को कहते हैं जो किसी इन्द्रिय द्वारा प्रमाणित न हो सके । पहचानी न जासके । परमात्मा न शब्द है, न रूप है, न रस है, न गन्ध है । यदि परमात्मा किसी प्रकार का शब्द होता तो हमारे कान उसे ग्रहण करलेते । परमात्मा स्पर्श होता तो हमारी त्वचा द्वारा उसे छूकर जान लेते । परमात्मा रूप होते तो हम चक्षु

द्वारा जान लेते । परमात्मा रस होते तो जिह्वा द्वारा जान लेते । परमात्मा गन्ध होते तो नासिका द्वारा जान लेते; किन्तु परमात्मा पांचों विषय रूप नहीं है । इसलिये उसे इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता । तभी उसे अप्रमेय कहा जाता है ।

यदि चक्षु इन्द्रिय द्वारा दिखने वाला रूप ही परमात्मा होता तो अर्जुन, लक्ष्मण, हनुमान, नारद, नन्दबाबा अदि सभी देख ही रहे थे, सेवा, संग कर ही रहे थे, किन्तु उस दर्शन, सेवा, संग से उनको परम शान्ति नहीं मिली तभी तो सभी ने परमशान्ति हेतु प्रार्थना कर, उपाय जानना चाहा एवं उस आत्मज्ञान द्वारा वे सब परमानन्द को उपलब्ध हो सके । तात्पर्य यह है कि परमात्मा इन आंखों से दिखाई देने वाला दृश्य वस्तु नहीं है । इसलिये उसे अद्रष्टम् कहा जाता है ।

मुझ आत्मा को अदृष्टम् के साथ वेद, उपनिषद, गीता, रामायण आदि शास्त्रों में अग्राह्यम् भी कहा जाता है । अदृष्टम् अर्थात् नेत्र द्वारा नहीं देखा जा सकता है और अग्राह्यम् का मतलब है जिसको किसी भी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण न हो सके । इस प्रकार आत्मा के अनेक विशेषण है । यह आत्मा अनिर्वचनीय होने से इसे वाणी भी अभिव्यक्त नहीं कर सकती कि 'मैं' ऐसा हूँ । जो वाणी द्वारा ग्रहण न किया जा सके फिर वहाँ मन की पहुंच भी कैसे हो सकेगी ?

'**द्रष्टेः द्रष्टारं न पश्येत**' बृहदारण्यक श्रुति में याज्ञवल्क्य ऋषि गार्गी को कहते हैं कि इस दृष्टि के द्रष्टा को दृष्टि नहीं देख सकती । सब ऐसा कहते तो हैं कि मुझ आत्मा को इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकती, बुद्धि निश्चय नहीं कर पाती, चित्त चिन्तन नहीं कर पाता पर क्यों नहीं कर पाते इसका स्पष्टीकरण कोई नहीं कर पाते हैं ।

राम अतर्क्य बुद्धि, मन, वाणी ।
मत हमार अस सुनहु सयानी ।।

अब समझे ! इन्द्रियां अपने से दूर एवं भिन्न पदार्थ का ही ग्रहण एवं ज्ञान कर पाती हैं । जैसे इन्द्रिय सम्मुख चन्द्र, सूर्य, तारा, बिजली, पक्षी, पहाड़ आदि दूरस्थ वस्तुको हम देखते हैं, किन्तु आंख में लगे काजल या सुरमा को हमारी आंख नहीं देख सकती; क्योंकि काजल, सुरमा आंख के बहुत पास है । फिर मैं आत्मा तो आंख से भी ज्यादा समीप हूँ । बल्कि मैं तो आख के पिछे बैठ आंख को भी देखता रहता हूँ कि वह ठीक-ठीक देख पाती है या नहीं । तो फिर मुझको आंख कैसे देख सकेगी ? कभी नहीं देख सकेगी । क्यौंकि मैं वाणी की वाणी, घ्राण का घ्राण, श्रोत्र का श्रोत्र, चक्षु का चक्षु हूँ । यह सब मेरी शक्ति पाकर अपने-अपने विषय को ग्रहण करती है, प्रकाशित करती है, किन्तु यह सब अपने प्रकाशक मुझ आत्मा को कैसे जान सकेंगे ?

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यव्दाचो ह वाचं स उ प्राणस्य ।
चक्षुषश्चक्षुरति मुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।

- केनउप. १/२

जो श्रोत्र का भी श्रोत्र है, जो मन का भी मन है, जो प्राणों का भी प्राण है, जो वाक्इन्द्रिय का भी वाक् है, वह ब्रह्म है । ज्ञानीजन उसे मैं रूप जान जीवनमुक्त होकर इसलोक से प्रयाण करने के बाद विदेह मुक्ति को अर्थात् जन्म-मरण से छूट अमरता को प्राप्त कर लेते हैं ।

नद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।

- गीता : १५/६

मुझ आत्म स्वरूप को न मन जान सकता है न उसका देवता

चन्द्रमा जान सकता । मुझ आत्मस्वरूप को न सूर्य जान पाता है न बुद्धि जान पाती है । न वाणी जान पाती है और न उसका अग्निदेव ही जान पाता है । यह वाक्, मन, बुद्धि जिसे नहीं जान पाती है और जो इस वाणी, मन, बुद्धि को जानता है । सद्गुरु द्वारा वह 'ब्रह्म मैं हूँ' ऐसा आत्मसाक्षात्कार करने वाला पुनः संसार चक्र में नहीं लौटता है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमाग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वंमिदं विभाति ।।

- कठोप. २/३/१४, मुण्डक उप. २/२/१०, श्वेता. उप. ६/१४ में भी है ।

मुझ स्वयंप्रकाश परमानन्द स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर के समीप यह सूर्य, चन्द्रमा, तारागण, बिजली आदि अपना प्रकाश नहीं पहुँचा पाते हैं । फिर यह भौतिक अग्नि वहाँ कैसे प्रकाशित हो सकती है । जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के सम्मुख तारागण लुप्त हो जाते हैं वैसे ही स्वयंप्रकाश मुझ परमात्मा के सम्मुख यह सूर्यादि का प्रकाश भी लुप्त हो जाता है । इस जगत में जो भी वस्तु प्रकाशित होती है वह मुझ परमात्मा की आंशिक शक्ति पाकर प्रकाशित हो रही है । सारांश यह है कि सम्पूर्ण जगत मुझ जगदात्मा पुरुषोत्तम के एक क्षुद्रतम अंश से प्रकाशित हो रहा है ।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदैव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।४।।

केनोपनिषद् खण्ड - १

वाणी के द्वारा जो कुछ भी व्यक्त किया जा सकता है तथा प्राकृत वाणी से बतलाये हुए जिस तत्त्व की उपासना लोक में की जाती है, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है । जिसकी शक्ति से वक्ता बोलने में समर्थ होता है उसको ही तू ब्रह्म जान । वाणी द्वारा बताने में आने वाले जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, यह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है ।

मति न लखै जेहीं मति लखै,सो मैं शुद्ध अपार ।

(विचार सागर)

यन्मन्सा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदैव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।५।।

जिसे कोई भी मन से नहीं जान सकता, बल्कि जिसकी शक्ति के अंश मात्र से यह मन संकल्प-विकल्प करने में समर्थ होता है, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है । मन और बुद्धि के द्वारा जानने में आने वाले जिस तत्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुंषि पश्यति ।
तदैव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।६।।

जिसे चक्षु के द्वारा कोई भी देख नहीं सकता, बल्कि जिसकी शक्ति के अंश मात्र से यह चक्षु रूप देखने में समर्थ हो रहे हैं, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है । लोग चक्षु से दिखाई पड़ने वाले जिस दृश्यवर्ग की उपासना करते हैं, यह ब्रह्म नहीं है ।

यच्छ्रोत्रेण न श्रृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदैव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।७।।

जिसे कान के द्वारा नहीं सुन सकते । इन प्राकृत कानों से जो नाद, शंख, घन्टा, बांसुरी, मृदंग आदि आवाज सुनते है और इन सुनाई पड़ने वाले ध्वनी, संगीत, शब्दादि की जो लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है । बल्कि जिस शक्ति का अंश ग्रहण कर कान सुनने में समर्थ हो रहे हैं वह ब्रह्म है ।

यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदैव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।८।।

यह प्राण जिसकी शक्ति पाकर देह के भीतर-बाहर चेष्टा युक्त होता है, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है । प्राण से अनुप्राणित जिस तत्त्व की साधकों द्वारा उपासना की जाती है, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है । परब्रह्म परमेश्वर प्राण से पृथक् है । उसके विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि जो प्राण का ज्ञाता, प्रेरक और उसमें शक्ति देनेवाला है, जिसकी शक्ति का अंश मात्र पाकर यह प्राण निरन्तर जीवन पर्यन्त भीतर बाहर होते रहते हैं तथा अन्न को पचाकर उसके स्थूल अंश मल-मूत्र को बाहर करते हैं वह ब्रह्म है ।

उस इस हृदयस्थित परमात्मा की जो मन, बुद्धि का साक्षी बना हुआ है उसकी यह रूप में, भिन्न रुप में, चित्र-मूर्ति रुप में अथवा व्यक्ति रूप में उपासना कभी मत करना । वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है । सारांश यह है कि पंच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा वाणी द्वारा जिस विषयों की उपलब्धी होती है, वह सब नश्वर दृश्य पदार्थ हैं । इसलिए उन दृश्यवर्ग की उपासना परमात्मा की उपासना नहीं है ।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।।

- कठोपनिषद : २/२/५

कोई भी जीव न प्राण से जीवित रहता है न अपान से बल्कि जिसमें प्राण और अपान यह दोनों आश्रय पाते हैं, ऐसे किसी दूसरे से अर्थात् जो इन प्राणों का भी प्राण है उससे जीवित रहते हैं वह ब्रह्म है ।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रय्नत्यभिसंविशन्तीति तद्विज्ञाय तद ब्रह्म ।

आनन्द ही ब्रह्म है । इस प्रकार निश्चय पूर्वक जानो । क्योंकि

वास्तव में आनन्द से ही ये समस्त भूत प्राणी उत्पन्न होते हैं । उत्पन्न होकर आनन्द से ही जीते हैं । फिर इस लोक से प्रयाण करते हुए, अन्तमें आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं ।

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम् ।
द्वन्द्वातीतं गगन सदृशं तत्त्वमस्यादि लक्षम् ।।
एकं नित्यं विमलं अचलं सर्व धी साक्षी भूतम् ।
भावातीतं त्रिगुण रहितं सद्गुरु त्वं नमामि ।।

वह आनन्द स्वरूप परमात्मा परम सुख रूप है । वह केवल ज्ञान की मूर्ति है । उसका ध्यान नहीं किया जा सकता । वह ज्ञान से ही जानने में आता है । वह परमात्मा समस्त उपाधियों में एवं सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, बन्ध-मोक्ष, राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से मुक्त आकाशवत् व्यापक एवं असंग है । सद्गुरु द्वारा 'तत्त्वमसि' वह ब्रह्म तू है इस प्रकार परोक्ष महावाक्य सुनकर उसका भाग-त्याग लक्षणा द्वारा अविद्या तथा माया के विरोधी चिदाभास अंश का त्यागकर शोष रहे जीव साक्षी कूटस्थ आत्मा एवं ईश्वर साक्षी परमात्मा का अभेद निश्चय कर लक्ष्यार्थ से वह ब्रह्म मैं हूँ 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । वह परमात्मा अद्वितीय, अविनाशी, शुद्ध, अचल है तथा समस्त मनुष्यों की बुद्धि के प्रकाशक, बुद्धि के ज्ञाता रूप से साक्षी रूप से विद्यमान है । जो समस्त भावों, उपाधियों से पृथक् तथा तीनों गुणों से अतीत है । इस प्रकार ज्ञान एवं अपरोक्ष आत्मानुभूति करा देने वाले सद्गुरु देव के चरणों में कोटि-कोटि वन्दन है ।

'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ।'

इस सत्संज्ञक अणिमा आत्मा से यह सारा जगत सत्तावान् है ।

इस आत्मा का कोई अन्य आत्मा नहीं है । हे श्वेतकेतो ! वह सत् तू है ।

नान्यदतोऽस्ति द्रष्ट नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ

-बृहदा. ३/८/११

इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है, इससे अन्य कोई इन शरीरों में श्रोता नहीं है । वह द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता तुम स्वयं हो ।

जो इस आत्मा को ग्रहण करने चलता है वह स्वयं आत्मा ही हो जाता है ।

'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति'

जानत तुमहि तुमही होई जाई, सो जानै जेहि देहु जनाई ।।

बच्चों का छुआ छुई के खेल में एक बालक चोर घोषित कर दिया जाता है । वह चोर बालक अन्य साथियों में से जिसे छू लेता है, वह भी चोर हो जाता है । इसी तरह भगवान को खोजने के लिये जो चला, वह खुद भी भगवान को जानकर भगवान हो जाता है । आजतक ऐसा न कहीं पढ़ने, सुनने में आया कि जो भगवान को जानने गया एवं जानकर फिर आकर बताया हो । जो नदी समुद्र को छूने के लिये चली, वह समुद्र से मिलकर स्वयं समुद्र हो गई । उसने लौटकर आजतक नहीं बताया कि समुद्र कितना लम्बा, चौड़ा, गहरा खारा है । क्योंकि वह नदी स्वयं समुद्र हो गई है । इसी तरह जिसने भगवान् को पाया, जिसने भगवान को जाना, आत्मा का दर्शन किया और छूलिया, जान लिया फिर वह तो स्वयं ब्रह्म रूप हो गया । वह अब बताने को कहां बचा कि भगवान ऐसा है और यदि वह बताता है कि भगवान ऐसा है तो जानना चाहिये कि अभी वह स्वयं ब्रह्म से दूर है, ब्रह्म को छूआ ही नहीं है । केवल वाणी द्वारा अनुमानिक बातें कर रहा है । भोले श्रोताओं का मनोरजंन कर अपनी आजीविका कमा

रहा है ।

अन्यथा संतमात्मानमथायोऽभिमन्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ।।

अद्वितीय सत्, चित्, आनन्द व्यापक आत्मा को जो पुरुष द्वैत, असत, जड़, दुःख एवं परिच्छिन्न रूप से मानता है, वह पुरुष अपने आत्मा का ही हत्यारा है, अपने आत्मभाव का हनन करने वाला है । ऐसे आत्म हत्यारे, चौर पुरुष ने इस लोक में कौनसा पाप नहीं किया है ? बल्कि उस भेद दृष्टि करने वाले ने सम्पूर्ण पापों को कर लिये हैं । **'द्वितीया द्वैं भयं भवति'** ।

अस्तु ! मोक्षाभिलाषियों को अद्वितीय आत्मा के प्रति कभी भी भेद दृष्टि नहीं करना चाहिये । भेद भाव करना ही मृत्यु से मृत्यु को दिलाता है ।

'को देवः ? यो मनः साक्षी !'
'सर्वधी साक्षी भूतम् ।'
'अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा ।'

- छान्दोग्य.उप. - ८/१२/५

जो मन के द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध विषय ग्रहण करने को, उसके संकल्प-विकल्प को जानता है वह आत्मा है । मन, बुद्धि उसे नहीं जानते हैं किन्तु मन, बुद्धि को जो जानता है वह आत्मा है, वह ब्रह्म है, वह तुम हो । जो जानता है वह द्रष्टा आत्मा है, जिसे जाना जाता है वह दृश्य अनात्मा है, यहाँ से ब्रह्मलोक पर्यन्त सब नश्वर संसार ही है । सबके पीछे रहकर सबका जो अनुभव करने वाला है वह आत्मा है । अनु = पीछे । भव = रहना, होना ।

मन जिसको ग्रहण नहीं कर सकता, मन जहाँ पर नहीं जा सकता और मन जिसको जान नहीं सकता, बल्कि मन को जो जानता है, मन का जो ज्ञाता है, साक्षी है, उसको ही तू परमात्मा जान । यह रूप से, दृश्य रूप से, नाम, रूप, व्यक्ति, चित्र, मूर्त्रि आदि की जो लोग उपासना करते हैं, वह आत्मा नहीं है । जिस पदार्थ को जानने के लिये 'यह' शब्द लगाया जाये उसे 'इदम्' कहते हैं । जैसे 'इदं शरीरम्' याने 'यह शरीर' और 'अहं' याने 'मैं' होता है, तो जो 'यह' है वह 'मैं' कभी नहीं हो सकता । जैसे **'अहमात्मा', 'अहंब्रह्मास्मि', 'सोऽहम्', 'शिवोऽहम्'** इत्यादि ।

मन कभी मेरी जानकारी के बिना कहीं चुपके से चोरी से निकल कर जा नहीं सकता । मन की चंचलता को, स्थिरता को, उसके विक्षेप एवं लय को मैं जानता हूँ, मैं आत्मा अनुभव करता हूँ । मन मुझ आत्मा को जानने में समर्थ नहीं है । प्राण को जो चलाता है वह स्वरूप 'आप' है । वाणी, मन, बुद्धि, चक्षु, प्राणादि किसी के द्वारा भी मैं आत्मा अग्राह्य हूँ । मैं स्वयं के द्वारा भी अग्राह्य हूँ । क्योंकि ग्रहण और त्याग अथवा देखना-जानना, अनुभव करना अपने से भिन्न किसी अन्य पदार्थ के लिये ही होता है । आत्मा तो स्व है, मैं हूँ । मैं जब अपना आप ही हूँ अपने आपसे दूर न हूँ न पास हूँ । तो किसे जानु ? किसे पकडूं ?

अपने से मैं दूर से दूर तब होता हूँ जब मैं अपने आपको किसी नाम, रूप, जाति, आश्रम, सम्बन्ध आदि उपाधियों से जोड़कर जानता हूँ कि मैं ऐसा हूँ । तब मैं आकाश व पृथ्वी के मिलन स्थल की तरह दूर से दूर हो जाता हूँ । और जब आत्मा पर से मान्यता का पर्दा हट जाता है हिन्दु, ब्राह्मण, स्त्री, पुरुष, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, नाम, रूप का तभी मैं इतना समीप हो जाता हूँ कि मैं स्वयं ही हूँ । मान्यता ग्रहण करना बहुत सरल है कि मैं ब्राह्मण हूँ तो चोटी जनेऊ धारण कर लेता है किन्तु फिर चोटी, जनेउ हटाना

बहुत मुश्किल हो जाता है । जीव की मान्यता को ब्रह्मादिक देवता भी दूर नहीं कर सकते । क्योंकि मान्यता दूसरे की चढ़ाई, ओढ़ाई होती तो उनके द्वारा हटा दी जाती पर जब अपने आप ही ढक्कन लगा लिया, पर्दा डाल लिया तो कौन हटावे ? भैया ! मानने में क्या देरी है किन्तु मान्यता रूपी पर्दे को उघाड़ना सरल नहीं है । कोई विरला ही इसे श्वान, सूकर के मल की तरह परित्याग कर पाता है ।

स्वस्वरूप आत्मा पर पहला पर्दा है जीव भाव का । बस ! और मान्यता,कल्पना तो बाद में आती है । यह देहाध्यास होने पर देह अभिमान रूप मान्यता का बाजार खड़ा हो जाता है ।

लोग कहते हैं यह मेरा मकान है, यह मेरा नाम है, तो यह मकान, यह नाम तुम नहीं हो । तब तुम कौन हो? यह तुम्हारी मान्यता है कि मैं अपने को जीव मानता हूँ । ठीक् है भाई ! पर यह मानने वाला कौन है ? इसे तो खोजो ! यह मेरा देह है पर यह देह का मालिक को तो खोजो कि वह कौन है ।

साक्षात् परमात्मा सबसे पहले अपने को जीव की कल्पना करता है । विकल्प का कोई आधार तो होना चाहिये । सोना न होगा तो आभूषण किसको मानोगे ? जीव भाव की कल्पना के बाद पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में पंचकोश तीन गुणादि सब कल्पित किये जाते हैं । लेकिन सब विकल्पों का आधार जीव भाव है । फिर यही भेद भी मानता है कि मैं जीव हूँ, मैं ईश्वर नहीं हूँ, इस भेद को भी यह जानता है । दूसरा और कौन है जो जानेगा ? '**स एव बुद्धयते भेदान**' इन भेदों को स्वयं ही जानता है ।

निज स्वरूप भगवान आत्मा को नाना प्रकार के धर्मों से उपाधियों

से लोग ढांक लेते है । कोई अपने को क्या मानता है, तो कोई दूसरा अपने को कुछ और मानता है । बस ! यह मान्यता का ढक्कन लग गया । ढांका तो सुख पूर्वक् जाता है, मान लिया ढँक गया । कितना सरल है ढक्कन लगाना । 'मैं जीव हूँ' ढंका तो सुख पूर्वक मगर जीव भाव का त्याग करना स्वयं ही जब चाहे तभी सम्भव हो सकता है उसमें भी सद्गुरु ही मुख्य सहयोगी है । यदि वह यह आत्म निष्ठा जाग्रत न करा सके तो यह जीव भाव स्वयं से कभी नहीं हट सकेगा । मगर स्वयं की इच्छा हो तब न !

प्रश्न उठता है जानने की इच्छा क्यों नहीं होती? जानने न जानने का भान आत्मा को नहीं होता है, जीव को ही होता है । आत्मा तो '**सर्वधी साक्षी भूतम्**' ।

'**हर्ष-विषाद ज्ञान अज्ञाना,जीव धर्म अहमिती अभिमाना**'

अपने आपको जानने की इच्छा क्यों नहीं होती? क्योंकि मैं अपने आप से अज्ञात कब हूँ जो आत्मा को जानने की इच्छा हो । बन्धा ही नहीं तो छूटने की इच्छा भी क्यों होगी

'**सदा में समत्वं न बन्धः न मोक्ष**'।

जो चीज जैसी है उसको वैसा ही जान लेना ज्ञान है । मैं आत्मा हूँ यह यथार्थ ज्ञान है । मैं सत्, चित्, आनन्द, द्रष्टा, कूटस्थ, अखण्ड, असंग, व्यापक मानना यह सब ऊपरी चाल चलन है । जैसे राम नाम की चादर लपेट चलना, हाथ में माला रखना, तिलक, भस्मी, जटा, मुंडन आदि यह सब ऊपरी दिखावे का चाल चलन है । भीतर तो वह व्यक्ति जानता ही है कि मैं क्या हूँ ।

तो जो वाणी द्वारा कहा नहीं जा सकता कि परमात्मा ऐसा है फिर उसके लिये जो भी कहोगे वह वाणी का विलास मात्र है । जो मैं हूँ वह तो

मैं ही जानता हूँ और यह प्रवचन सुन रहे हो यह ऊपरी चाल चलन है दिखावे मात्र का । इससे आत्मा का कोई भला होने वाला नहीं है । क्योंकि आत्मा सदा कल्याण स्वरूप है । यह सब चाल चलन मन का है ।

परमात्मा का वास्तविक स्वरूप किसी को ज्ञात नहीं है । इसीलिए श्रुतियाँ भी नेति-नेति कह कर मौन हो जाती है । भगवान को जिसने जाना वह तो भगवान हो जाता है फिर वापस आकर कौन बतावे कि भगवान ऐसा है । दूर खड़े रहकर वास्तविकता का वर्णन नहीं किया जा सकता । इसलिए मैं अग्राह्य हूँ, जो कुछ कहेंगे वह बाहरी चाल चलन बनाना है । नजदीक गये तो छुआ गए । जहाँ आत्मा को छुआ तो आत्मा ही हो जाता है । नदी सागर को छूकर सागर ही हो जाती है । आत्मा से दूर होना क्या है - अपने आपको जन्म-मृत्यु रूप देह मानना या अपने को कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुखी, बन्ध-मोक्ष धर्मी जीव मानना ।

यह कर्म, उपासना, योग, कुण्डलनि जाग्रत करना, ध्यानादि सब ऊपरी वेश बनाना है । वास्तव में तो आत्मा अग्राह्य, अप्रमेय,अगोचर,अदृश्य है । ब्रह्मादिक भी मुझ आत्मा को जानने में समर्थ नहीं है । तो भला यह अल्पज्ञ जीव क्या कह सकेगा ? कुछ नहीं । जानने का अधिकार किसीको नहीं । जब जीव ब्रह्म को जानने गया तो बस वहीं वही होकर रह जाता है । आजतक कोई बताने नहीं आया कि मैंने भगवान को इस प्रकार जाना । अलग रह कर बताएगा तो वह दृश्य होने से मिथ्या हो गया और सचमुच में जाना है तो फिर '**जानत तुमहीं तुमहीं होइ जाई**' । कहने गया तो '**यतो वाचो निवर्तन्ते**' ।

भगवान आत्मा को जानने के लिये जो कर्म, उपासना, भजन, जप, माला, पूजा, पाठ, आरती, योग, ध्यान, धारणा, समाधि आदि यह सब साधन किये जाते है किन्तु यह सब भगवान को पाने, जानने का मुख्य

साधन नहीं है । भगवान को जानने का जो अधिकार है उसे प्राप्त करने के लिये यह सब साधन बाह्य प्रवृत्ति है । जैसे कालेज एडमिसन् प्राप्त करने का मैट्रिक् शिक्षा अनिवार्य है यह मैट्रिक् शिक्षा ग्रेजुएशन प्राप्त करने का अधिकार है । इसी प्रकार कर्म, उपासना करने से ब्रह्म जिज्ञासा जाग्रत हो जाती है, ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता । ब्रह्म साक्षात्कार तो किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाकर वेदान्त महावाक्यों का लक्ष्यार्थ ग्रहण करने से ही होता है । कर्म, उपासना तो चित्त शुद्धि एवं ब्रह्म जिज्ञासा जाग्रत कराने का बहिरंग साधन है ।

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किंचित्कर्मकोटिभिः ।।

विवेक चूड़ामणी : ११

यदि मुमुक्षु साधक ने सगुण भगवान की उपासना नहीं की है तो जहाँ पर ब्रह्म विद्या का विवेचन होता है और वहाँ उसकी श्रद्धा जाग्रत हो गई तो फिर वहाँ इसे ब्रह्मप्राप्ति का अधिकार भी मिलजाता है और आत्म साक्षात्कार भी हो जावेगा । ब्रह्मविद्या में श्रद्धा भक्ति जाग्रत हो गई तो फिर ब्रह्म विद्या श्रवण, मनन छोड़ चित्तशुद्धि हेतु कर्म उपासना करने की जरूरत नहीं । ब्रह्मविद्या के श्रवण से अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है एवं करोड़ों जन्मोंके पाप भी नष्ट हो जाते हैं ।

ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।

मल दोष का नाश वेदान्त महावाक्यों के श्रवण से, विक्षेप दोष का नाश मनन से एवं आवरण दोष निदिध्यासन द्वारा समाप्त हो जाता है ।

आत्मा का मन द्वारा मनन नहीं होता, बुद्धि द्वारा निश्चय नहीं होता, चित्त द्वारा चिन्तन नहीं होता है । तब किस प्रकार आत्मा जाना जाय

?

मन मनन करते करते जहाँ चुप हो जावे, शान्त हो जावे, अमन हो जावे, बुद्धि जहाँ खो जाती है, चित्त चिन्तन करते-करते चित हो जाय वही तो मैं अवाङ्मानसगोचर आत्मा हूँ ।

१४ लोक में विचरण करने वाले योगी, भगवान के द्वारा भी पुज्य नारद ८४ कलाओं को जानने वाले, चारों वेद के ज्ञाता, इतिहास, पुराण, पांचवा वेद, महाभारत, पाचों वेदों का वेद-व्याकरण- क्योंकि व्याकरण के द्वारा ही पदादि के विभाग पूर्वक वेदों का अर्थज्ञान होता है । पित्र्य-श्राद्धकल्प, राशि, गणित शास्त्र, दैव-उत्पात्ज्ञान, भूमीकम्प, ज्वालामुखी, अतिवृष्टि, सुखा आदि । निधि पृथ्वी में कहाँ क्या छिपा है, वह भूगर्भ विद्या का ज्ञान, वाकोवाक्य, तर्क शास्त्र, एकायन-नीति शास्त्र, राजनीति, युद्धनीति, ब्रह्मविद्या - वेदों का विद्या यानि शिक्षा, कल्प, छन्द, चिति, भूत विद्या, भूतशास्त्र, क्षत्रविद्या, धनुर्वेद, नक्षत्र विद्या, ज्योतिष, सर्पदेवजन विद्या, गरूड़ विद्या, सर्प को वश में करना, उसके जहर को उताराना, देवजन विद्या, गन्ध युक्ति तथा नृत्य, गान, संगीत, वाद्य और शिल्पादि विज्ञान सब नारदजी जानते हुए भी सनत्कुमार के पास जाकर प्रार्थना करते हैं कि -

हे भगवन् ! मैं इतना जानता हूँ फिर भी शोक के सागर में डूबा हुआ हूँ । मैंने सुना है '**आत्मवेत्ता शोक के सागर से पार हो जाता है**' '**तरती शोकं आत्मवित्**' । हे भगवन् ! मैं मन्त्रवेत्ता हूँ किन्तु आत्मवेत्ता नहीं हूँ । हे प्रभो ! आप मुझे अपना शिष्य जान मेरे कल्याण का उपदेश कीजिए ।

हे नारद ! तुमने जो कुछ जाना है वह सब नाशवान है, अल्प है

। अल्प दुःख रूप है । विभु-व्यापक, अखण्ड, आत्मा ही सुख रूप है । वह आत्मा तेरा स्वरूप है । 'मैं ब्रह्म हूँ' इस रूप से उसका चिन्तन मनन ध्यान कर ।

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखंमस्ति भूमैव सुखं ।

- छान्दोग्य.उप : ७/२३/१

भूमा-महान निरतिशय ही सुख रूप है । अल्प दुःख रूप है । तात्पर्य यह है कि इतनी योग्यता रखने वाले नारद जी आत्मज्ञान के कारण दुःखी भटकते रहे । जब उन्हें सनत्कुमार द्वारा आत्मज्ञान हुआ तब परमशान्ति का अनुभव कर सके ।

प्रथम अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्म करके अन्तःकरण को पवित्र करो । फिर आत्मा को जानने के लिये यह कर्मकाण्ड का भी परित्याग करदे । सबका कोर्स है । ऐसा थोड़े ही है कि सारे जीवन कर्म, उपासना ही करता रहे । यदि कहो कि अभी ज्ञान के अधिकारी नहीं है तो कौन देवता, आकर कहेगा कि अब तुम ज्ञान के अधिकारी हो गये ? मनुष्य जीवन मुक्ति का द्वार रूप है । '**साधन धाम मोक्ष कर द्वारा**' तो फिर यह ज्ञान का अधिकार भी इसे प्राप्त हो गया, क्योंकि ज्ञान बिना मुक्ति प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नहीं है । अब ज्ञान पाने के लिये किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ट सद्गुरु की शरण ग्रहण करना चाहिये । अपने 'मैं देह हूँ' इस अभिमान को उनके चरणों में समर्पित करदे ।

सगुण उपासना कब तक करना चाहिये इसे भगवान राम के द्वारा ही जानले तो विश्वास दृढ़ होने में सन्देह नहीं रहेगा ।

यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं तावन्मदाराधनतत्परो भवेत ।
श्रद्धालुरत्यूर्जित भक्ति लक्षणो यस्तस्यदृश्योऽहम्हर्निशं हृदि ।।

- अध्यात्म रामायण, उत्तर काण्ड, पंचम सर्ग श्लोक : ५८

हे भाई लक्ष्मण ! जबतक सारा संसार प्रपंच तृण से आदि ब्रह्मा पर्यन्त आप सहित अपना स्वरूप आत्मा निश्चय न हो तब तक मेरी सगुण साकार की आराधना करे, किन्तु जब सर्वत्र एक आत्म निश्चय हो जाय तब उस साकार पूजा का त्याग कर किसी सद्गुरु की शरण में ही जाना चाहिये । वे सद्गुरु वेदान्त महावाक्यों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन कराकर 'तत्त्वमसि' 'वह तू है' इसका लक्ष्यार्थ अनुभव करादेंगे । तभी यह जीव कृत्य कृत्य हो सकेगा । आत्मज्ञान के सिवा मुक्ति का अन्य उपाय नहीं है ।

●●●

परमात्मा अचिन्त्य क्यों है ?

परमात्मा के अस्तित्व में क्या प्रमाण है ? परमात्मा है इसका प्रमाण यही है कि मैं हूँ । इसलिये परमात्मा भी है । यदी मैं नहीं रहूँगा तो परमात्मा है अथवा परमात्मा नहीं है इसको कौन प्रमाणित करेगा ? इसको कौन जानता है ? इसका साक्षी कौन है ? यदि मैं नहीं होऊगां तो इसका प्रमाता कौन होगा कि परमात्मा है ? परमात्मा नहीं है यह भी उसीके द्वारा सिद्ध होगा जो परमात्मा के होने का साक्षी है । नाना भावाभाव का सिद्ध करने वाला तो मैं ही हूँ । परन्तु मुझ आत्मा को अस्ति भाव, नास्तिभाव, अस्ति-नास्तिभाव और नास्ति-नास्ति भाव चारों भाव बताने में समर्थ नहीं है ।

परमात्मा नहीं है यह असत भावना है । परमात्मा और जीव आत्मा दोनों भिन्न है । यह विपरित भावना है । ईश्वर सर्वज्ञ, जीव अल्पज्ञ है ऐसा शायद हो इसे सम्भावना कहते हैं । ऐसा हो नहीं सकता इसे

असम्भावना कहते हैं । इन चारों भावनाओं को निवृत्त करने के लिये वेदों के चार महावाक्य है । अहंब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानम् ब्रह्म ।

मैं आत्मा अग्राह्य हूँ क्योंकि कोई इन्द्रिय मुझे स्पर्श नहीं करपाती, इसलिये मैं अव्यवहार्य हूँ । क्योंकि व्यवहार प्रपंच में होता है । इन्द्रियां केवल प्रपंच के ग्रहण करने हेतु ही है । जीवन निर्वाह, जीवन रक्षण, पालन हेतु ही इन इन्द्रियों की उपयोगिता है । परमात्मा के क्षेत्र में इन्द्रियों का प्रवेश नहीं है । इसलिये आत्मा अप्रमेय है । मन भी प्रपंच संसार का ही व्यवहार ग्रहण-त्याग रूप करता है किन्तु मुझ आत्मा में मन का भी प्रवेश नहीं है । कहने का तात्पर्य है मुझ आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ है प्रपंच है ।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।

-गो.पा.कारि. वैतथ्य प्रकरण : मं.स -३२

वास्तव में न तो इस संसार की कभी उत्पत्ति हुई है न तो कभी प्रलय होता है । न पालन होता है । जब प्रपंच की उत्पत्ति नहीं तब प्रपंच का पालन नहीं और जब पालन नहीं तब संहार भी नहीं । जब प्रपंच की उत्पत्ति नहीं तो उत्पत्तिकर्ता ब्रह्मा एवं पालन कर्ता विष्णु भी गये । जब उत्पत्ति, पालन नहीं तब संहारकर्ता शंकर भी नहीं है । यहां परमार्थ तत्त्व का निरूपण हो रहा है ।

मतः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनन्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोत्तं सूत्रे मणिगणा इव ।।

- गीता : ७/७

मुझसे भिन्न कोई भी परम कारण इस जगत प्रपंच का नहीं है । यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र अधिष्ठान में सूत्र के मनियों के सदृश्य मुझमें अध्यस्त है ।

अहमात्मा गुड़ाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥

- गीता : १०/२०

मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबका आत्मा हूँ । तथा सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ ।

कहाँ है जगत :

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ॥

- गो.पा.कारि अलातशान्ति प्रक. मंत्र सं : ७१

यही उत्तम सत्य है कि कोई चीज पैदा ही नहीं हुई । न यह जगत स्वयं पैदा होता है और न कोई इसे अन्य पैदा करता है । यदि प्रपंच की उत्पत्ति माने तो उत्पत्ति से पूर्व प्रपंच भाव रूप था या अभाव रूप । अभाव से उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि उत्पत्ति से पूर्व जगत भाव रूप याने सत्य माने तो सत्य से भी उत्पत्ति नहीं हो सकती । जो कालातीत है उसे सत्य कहते हैं । उत्पत्ति से पूर्व जगत है । असत्य ब्रध्यापुत्र वत् यदि था, तो असत्य संसार जो था ही नहीं, उससे उत्पत्ति कैसे होगी ? सत्यासत्य मानो तो भी उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

परमात्मा अजन्मा है तो अजन्मा से किसी की उत्पत्ति नहीं हो सकती । संसार का जैसा रूप देखने में आता है वैसा विचार काल में संसार

नहीं मिलता । जैसे स्वप्न, निद्राकाल में प्रतीत होता है वैसा जाग्रत काल में नहीं मिलता ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।

-गीता १५/३

क्योंकि न तो इसका आदि है न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकार स्थिति है । शास्त्रों में भी इसकी उत्पति का क्रम पृथक्-पृथक् पाया जाता है । कहीं तो जगत की उत्पत्ति सीधा ब्रह्म से, कहीं तेज, जल, पृथ्वी से, कहीं आकाश से रचना बताई है । इससे सिद्ध होता है कि नाम, रूप, जगत् मिथ्या है । तो फिर यह क्या है जिसका उत्पत्ति,पालन और संहार नहीं है । तो यह विशेषण प्रपंच का नहीं है बल्कि मुझ आत्मा का ही है । प्रपंच की उत्पत्ति नहीं होती वह 'अज' है और जो 'अज' है वह 'मैं' हूँ । संसार तो एक झूठा नाम है । मुझ अधिष्ठान पर प्रपंच रस्सी पर सर्प की तरह अध्यस्त, कल्पना मात्र है ।

ह्वै जिहिं जाने बिनु जगत, मनहु जेवरी सांप

संसार पैदा होता तो इसकी जन्म कुण्डली अवश्य होती । परन्तु जगत कब बना, किस युग, कल्प, साल में बना किसी को पता नहीं लग पाया । इसलिए संसार अनादि है । अनादि होने के कारण अनन्त भी है, वह मैं हूँ । जब जगत है ही नहीं तो अभाव में व्यवहार कहां ? इसलिए मैं अव्यवहार हूँ ।

संसार को व्यासदेव जी ने अश्वस्थ नाम दिया है । अ = नहीं । श्व = कल प्रातः । स्थ = स्थिर । अर्थात् जो अभी रात्रि के अंधेरे में है कल प्रातः जो नहीं रहने वाला है । अज्ञान अंधकार में भासता है ज्ञान रूपी सूर्य प्रकाश में नहीं रहता । क्या दिन के १२ बजे रस्सी में सर्प दिखाई पड़ता

है ? रस्सी के अज्ञान में, अन्धकार में सर्प दिखता है । इसी प्रकार आत्मा के अज्ञान में संसार सत्य सा भासता है । वास्तव में संसार है नहीं ।

भगवान कहते है इस अभाव रूप संसार की जड़ बड़ी मजबूत है एवं बहुत गहरे में चली गई तो इसे काटें कैसे ? तो कहते है असंग शस्त्र द्वारा '**असंगोऽयमपुरुषः**' । असंग का अर्थ जिसका किसी से संग न हो । सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद रहित को शास्त्र में असंग कहते हैं, सो मैं हूँ । मुझ आत्मा का संग किसी से है नहीं । मुझ आत्मा के सिवाय कुछ है ही नहीं तो संग किसका करें ?

यदि रस्सी से सर्प भिन्न होता तो उसे मारने का अन्य उपाय किया जाता । अरे ! जब रस्सी ही सर्प है तो फिर उसे मारने के लिये रस्सी ज्ञान करना ही एक मात्र शस्त्र है ।

उसी तरह संसार प्रपंच यदि मुझ आत्मा से सर्वथा भिन्न होता तो फिर संसार के नाश करने का कोई अन्य उपाय खोजा जाता । और जब मैं ही प्रपंच जगत् हूँ तो इसके नाश का उपाय मैं आत्मा ही हूँ । **असंगोऽयम-पुरुषः ।**

इसी तरह इस देह को समझलें । यह देह उत्पत्ति से पूर्व सत था तो सत की उत्पत्ति नहीं होती । सत्यासत्य कहो तो भी उत्पत्ति नहीं हुई । तो अनुत्पन्न होने के कारण 'अजम' है ।

संसार वृक्ष की जड़ काटने का शस्त्र है 'अहम्' । जब कोई बाहर या ध्यान में भीतर कोई दृश्य, कल्पना, संकल्प, विकल्प जो भी सामने आवे तब वहां मैं को खड़ा करदे । मैं का डन्डा लगाओ । तत्काल विचार एवं संकल्प-विकल्प अदृश्य हो जएगा । इस विचार से समस्त प्रपंच ही समाप्त हो जाता है । प्रपंच देश में प्रपंच है किन्तु आत्म देश में

प्रपंच नहीं है । जहाँ तुमने मैं हूँ को खड़ा कर दिया सामने तो मैं देश में, आत्मदेश में तो प्रपंच ही नहीं, वह ठहर नहीं सकेगा । चला ही जाएगा ।

यदि तुम्हारे ध्यान में बैठने के समय मन चंचल होता है, मन में विकार पैदा होता है और इन विकल्पों से तुम्हें ग्लानि होती है तो मैं की गोली मार वही गिरादो विकारों को, चंचलता को । यदि इन विकल्पों से ग्लानि नहीं होती है तो वहां मैं का तीर छोड़ने की जरूरत नहीं है ।

जब मैं को मैं रूप, आत्मा रूप रखोगे तब विचारों, कल्पनाओं के उदय अनुदय से कल्पनाओं के भावाभाव में हर्ष-शोक नहीं होगा ।

जब तक कल्पनाओं से हर्ष-शोक होता है, भावाभाव से हर्ष-शोक होता है तबतक समझना चाहिये अभी हमारी अवस्था कच्ची है । अभी हमने अपने को सर्वरूप, व्यापक, अखण्ड, असंग, आत्मरूप नहीं जाना है । अभी हम पूर्ण रूप से स्वस्थ नहीं है ।

'मैं हूँ' का तीर, गोली या दंडा तो अस्वस्थ रोगी के लिये है । यानि जिन्होंने वाणी से कहना जान लिया है, बुद्धि से रट लिया है कि मैं द्रष्टा, साक्षी, मन बुद्धि का प्रकाशक हूँ किन्तु अभी मैं आत्मा हूँ इसे आत्मा के तल से नहीं जाना है । मैं आत्मा हूँ इस बोध की परिपाक अवस्था अभी नहीं हुई है । अतः ऐसी अवस्था में कल्पनाओं के उदय अनुदय में हर्ष, शोक होना स्वाभाविक ही है । तब मैं हूँ का तीर या गोली छोड़ते ही न काम विकार रहेगा ना लोभ रहेगा । किसी प्रकार का विकार नहीं रहेगा व मन तत्काल शान्त हो जावेगा । मैं को सर्वरूप में पहचानने की आदत डालो ।

भ्रम रूप संसार वृक्ष की जड़ तो भगवान, आत्मा रूपी शस्त्र के द्वारा ही कट सकती है, इसे काटने का दूसरा उपाय नहीं है । क्योंकि संसार मुझसे भिन्न होता तो उसे काटने का कोई अन्य उपाय सोचा जाता । जब मैं

ही प्रपंच हूँ तब मुझ आत्मा से प्रपंच जगत की सत्ता भिन्न नहीं है तो मैं ही इसका नाशक हूँ । जैसे मन्द अन्धकार में पड़ी रस्सी में प्रतीत होने वाले सर्प के नाश का रस्सी ज्ञान ही शस्त्र है । उसी तरह संसार प्रपंच का नाशक 'मैं' आत्मा का ज्ञान ही शस्त्र हूँ । क्योंकि मुझ अधिष्ठान आत्मा के अज्ञान से ही जगत् भ्रान्ति उत्पन्न होगई है । बुद्धि द्वारा समझ लिया है कि मुझ आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है । यह बुद्धि की धारणा है । तो जब तक यह समझ बुद्धि तक है तब तक कल्पनाओं के उदय अनुदय में हर्ष होगा, शोक होगा ही । और जब मैं उसको स्वयं समझूंगा तो स्वयं के समझने में कल्पना का सवाल ही नहीं । दूसरी बात है कि बुद्धि रूपी दर्पण में मेरा ही प्रतिविम्ब पड़ रहा है । यदि अपने प्रतिविम्ब से भय लग रहा है तो दर्पण को उल्टा कर दो ।

●●●

मन को ब्रह्म जानो

सब चराचर मन का प्रपंच है । मन शीशा जब अमनी भाव (आत्मभाव) को प्राप्त हो गया तो जगत प्रपंच का भान ही कहाँ ? जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में जो कुछ प्रपंच दिखाई देता है वह मुझ आत्मा का ही तो प्रतिविम्ब है । सुषुप्ति अवस्था में मन नहीं रहता है तो मन के न रहने से प्रतिविम्ब भी नहीं पड़ता । जब शीशा ही नहीं तब प्रतिविम्ब कहाँ ?

लहर को लीन करने का एक ही उपाय है उसे जल रूप जान लेना है । इसी तरह मन की लीन करने का, अमन करने का एक ही उपाय है उसे आत्म रूप से जान लेना । मैं आत्मा के अज्ञान से मन है न कि स्वरूप ज्ञान से । जब स्वरूप को जान लिया तो मन नाम की चीज ही नहीं

। लोग कहते हैं हमने विषय को अच्छी तरह समझ लिया है किन्तु हमारा मन बड़ा परेशान करता है । तो अभी तुमने समझा ही नहीं है मैं द्रष्टा साक्षी आत्मा हूँ , यह तुम्हारी बुद्धि ने समझा है । अपने आप द्वारा नहीं समझा है कि मैं द्रष्टा साक्षी आत्मा हूँ ।

दूसरी बात भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं '**इन्द्रियाणा मनश्चास्मि**' जिसको मन कहते हैं वह मैं ही हूँ । मन की एकता मुझ आत्मा से ही होगी, देह की एकता प्रपंच से होगी ।

मन का लय होना मनका अभाव नहीं है । क्योंकि लय तो सुषुप्ति में भी रोज हो जाता है । यह मन का अमन होना नहीं है । यदि मन के लय हो जाने से मन अमन हो जाता तो रोज सुषुप्ति से पुनः जाग्रत अवस्था में लौटकर न आता । स्वरूपस्थ हो जाना मन का अमन होना है । मन के अमन हो जाने पर फिर द्वैत प्रपंच की प्रतीति नहीं होती । **मन का अमन हो जाना याने मैं हो जाना है ।**

लोग कहते हैं हमारा मन वश में नहीं होता, मन बहुत चंचल है । अरे ! मन मुझ आत्मा के वश में न होता है तो यह तीन घन्टे ध्यानस्थ हो यह अति सूक्ष्म विषय आत्म तत्त्व सुनपाते ? मन ही तो एक साधन है इस गूढ़ आत्मज्ञान को समझने हेतु । फिर भी शिकायत करते हो कि मन वश में नहीं है । अच्छा बताओ इस प्रवचन में बैठने से पूर्व मन को स्थिर शान्त बैठ सुनने के लिये क्या कोई अभ्यास करा सिखाकर तुम यहाँ आये हो एवं शान्त हो सुनते रहते हो ? यह तो बताओ कौन सा साधन मन को वश में करने के लिये तुमने किया है ? यह मैं कि महिमा है कि तुम्हें सुनते समय न मन का भान होता है और न सुनने का ही भान रहता है कि हम दो घन्टे से अपलक सुन रहे हैं । मन के न रहने पर मन का व्यवहार ही नहीं रहता । इसीलिये मैं अव्यवहार्य हूँ इसी का नाम परमार्थ है ।

स्वामीजी ! आप कहते हैं और शास्त्र भी कहते हैं कि मैं मन का प्रेरक हूँ यह ठीक है पर यह भान मुझे नहीं हो रहा है । अरे भैया ! भान न होना ऐसा जानना ही तो मैं हूँ, इस बात का प्रमाण है । यदि मैं न होता तो भान नहीं हो रहा है यह जो नहीं है वह कह रहा है या जो है वह कहरहा है ? जो है, वह कह रहा है । यही तो मैं आत्मा हूँ ।

सुनते समय, देखते समय, स्वाद लेते समय, सूंघते समय, यह भान किसी को नहीं रहता कि मैं सुन रहा हूँ, देख रहा हूँ, स्वाद ले रहा हूँ, सूंघ रहा हूँ क्योंकि मैं आत्मा अव्यवहार्य हूँ । जब याद दिलाई जाती है तब तुम जानते हो कि मैं सुन रहा हूँ, मैं सूंघ रहा हूँ । मगर सुन रहा हूँ, देख रहा हूँ, जान रहा हूँ क्या इन क्रियाओं के समय भी यह अनुभव होता है कि 'मैं सुन रहा हूँ, देख रहा हूँ, जान रहा हूँ '? नहीं, क्योंकि 'मैं' आत्मा अव्यवहार्य हूँ । देखना, सुनना, जानना सब व्यवहार है मगर व्यवहार के अनुभव काल में व्यवहार की अनुभूति का सर्वथा अभाव है । किसी व्यवहार के समय कर्ता, कर्म, क्रिया तीनों का अभाव रहता है । क्योंकि मैं आत्मा अव्यवहार्य हूँ । यदि मैं आत्मा व्यवहार होऊं तो व्यवहार का अनुभव हो । तो मैं आत्मा अव्यवहार्य होने के कारण इन्द्रियों के व्यवहारिक काल में व्यवहार की अनुभूति नहीं होती ।

चींटी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त स्व स्वरूप में स्थित है । पशु, पक्षी, कीट, पतंग, नर-नारी, बाल, युवा, वृद्ध, आस्तिक, नास्तिक, पापी-पुण्यात्मा, सन्त, असन्त, सब इस स्थिति में बिना प्रयास के ही स्थित है । इस बात को समझाने के लिये ही चार वेद, अठ्ठराह पुराण, दो सो उपनिषद, रामायण, गीता आदि ग्रन्थ एवं महापुरुष, भगवान, समझा रहे हैं कि बिना प्रयास के सब स्वरूप में स्थित है, इस समझ के बाद व्यवहार नहीं है ।

जहाँ पहुंचना है वहाँ तुम पहले से ही स्थित हो एवं जिसे पाने के

लिये व्याकुल हो इधर-उधर दौड़ रहे हो वह तुम ही हो ।

●●●

परमात्मा का कोई लक्षण नहीं

संसार के पदार्थ लक्षण वाले जिनका ज्ञान, पहचान हमारे पांच ज्ञानेन्द्रिय एवं मन, बुद्धि द्वारा जाना, देखा, सुना एवं सोचा विचारा जाता है । किन्तु हमारा आत्म स्वरूप अलक्षण है , अप्रमेय है । किसी प्रकार इसका वाणी द्वारा निरूपण नहीं किया जा सकता । मैं सत् हूँ, चित हूँ, आनन्द हूँ, स्वयंप्रकाश हूँ, अखण्ड हूँ, अपरिच्छिन्न आत्मा हूँ । इस प्रकार कोई लक्ष्यण है ही नहीं क्योंकि में अलक्षण हूँ । 'मैं आत्मा जैसा हूँ वैसा ही हूँ' । यदि कोई कहे '**अवा'मनसगोचर**' हूँ वाणी मेरा कथन नहीं कर सकती तो यह भी एक लक्षण हो गया । तब क्या कहा जाय कि मैं कैसा हूँ ? मैं क्या हूँ ? तो यह बताया जायगा कि किसी चीज का विरोध न करना ही मुझ आत्मा का लक्षण है । मैं सर्व हूँ '**ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्**' । मुझ आत्मा से भिन्न कुछ है ही नहीं । मैं सर्व हूँ । तो भैया ! जिसका जो लक्षण है वह मेरा भी लक्षण है । अलक्षण की यही प्रभुता है । अलक्षण की यही अनुभूति है कि '**जैसा 'मैं' हूँ वैसा ही हूँ**' ।

नासन्न सन्न सदसन्न महन्न चाणु स्त्री, पुमान्न च नपुंसकमेक बीजम्

न मैं आत्मा सत् हूँ, न मैं असत् हूँ, न मैं सत-असत हूँ । न महान हूँ, न सूक्ष्म हूँ, न स्त्री, न पुरुष, न नपुन्सक विशेषण वाला हूँ ।

ऐसा जो सनातन ब्रह्म है, इस आत्मदेव की वह ब्रह्म मैं हूँ 'अहं ब्रह्मास्मि' इस रूप से जो भाग्यशाली आराधना करते हैं वही धन्य है । 'मैं

ब्रह्म हूँ', सोऽहम् रूप से जो अभेद चिन्तन नहीं करते हैं वे नराधम भवपाश में बंधे हुए हैं वे वारम्बार मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होते रहेंगे । अर्थात् जन्म-मरण में फंसे रहेंगे ।

मैं आत्मा अलक्षण हूँ । तब मुझ अधिष्ठान आत्मा पर प्रतिभासित यह अध्यस्त जगत भी अलक्षण ही होगा क्योंकि अधिष्ठान के अनुरूप ही अध्यस्त प्रतीति होती है । रस्सी के लम्बाई बराबर ही मन्द अन्धकार मैं प्रतिभासित होने वाला सर्प होता है उससे बड़ा या छोटा नहीं हो सकता ।

यदि देह को सत्य कहें तो सदा रहना चाहिये सो वह सदा रहता नहीं है । यदि असत्य कहें तो दिखना नहीं चाहिये । सो सब को दिखाई देता है कि यह शरीर है । यदि कहो सत्यासत्य दोनों है तो यह कहना भी बनता नहीं । सत्य असत्य नहीं हो सकेगा । असत्य सत्य नहीं हो सकेगा । सत्य से असत्य की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी । इसलिये देहादिक प्रपंच न सत है न असत है न सत्य-असत है । अर्थात् यह देहादिक जगत प्रपंच भी मैं आत्मा होने से अलक्षण है ।

मन का भी कोई लक्षण नहीं है । वह भी मेरी तरह अवा' मनसगोचर है । मन, बुद्धि, चित्त का भी कोई आकार प्रकार नहीं है । यदि आकार प्रकार इस प्रपंच में दिखता भी है तो बिना मुझ अधिष्ठान आत्मा के आकार-प्रकार बनेगा भी किसमें ? तात्पर्य यह है कि मैं आत्मा अलक्षण हूँ तो उसी तरह देह, मन, बुद्धि चित्तादिक भी अलक्षण है । इनका भी कोई लक्षण नहीं है क्योंकि यह सब नहीं है 'मैं' ही हूँ । बल्कि 'मैं 'हूँ । 'ही' तो वहां लगाया जाता है जहाँ पर कुछ भिन्न की प्रतीति होती है । तो भिन्नता की सत्ता का अभाव करने के लिये ही 'ही'लगाया जाता है । सोना ही आभुषण है, लोहा ही शस्त्र है, और जब स्वर्ण में आभुषण नहीं मिले, लोहा में शस्त्र नहीं मिले तो स्वर्ण है, लोहा है । सत्ता हीन आभुषण, शस्त्र

निकल गये । तो प्रपंच का अभाव दिखाने के लिये अहमेवेदम् सर्वम्, आत्मैवेदम् सर्वम्, ब्रह्मैवेदम् सर्वम्, नारायणेवेदम् सर्वम्, वासुदेवेदम् सर्वम्, सब आत्मा ही है, सब नारायण ही है । सब मैं ही हूँ । जब सत्ताहीन प्रंपच की निवृत्ति होगई तो 'मैं 'हूँ । ही की जरूरत नहीं रही । इस तरह मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, पंचभूत, पंच तन्मात्राएं, स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों सत, रज, तम गुणों की सत्ता का अभाव जान लिया तो बस 'मैं ही एक मात्र हूँ' ।

ब्रह्मानन्द रसं पीत्वा येतु उन्मत योगिनः ।
इन्द्रोऽपि रंकवत् भाति का कथा नृप कीटकाः ।।

ब्रह्मानन्द मदिरा को पीकर जो उन्मत है उनकी दृष्टि में इन्द्र भी भिखारी के समान दिखाई देता है । इन्द्र ही दरीद्र नहीं है सारा संसार दुःखिया एवं दरिद्र है ।

जब आपने आत्मदेश में प्रपंच ढुंढा तो प्रपंच नहीं मिला 'ही' निकल गया 'मैं हूँ' रहगया । प्रपंच में रहने पर तो मैं आत्मा ही नाना लक्षण वाला प्रतीत होता हूँ । जैसे जो अपने को मनुष्य माने उसको मैं अखण्ड, अजन्मा, व्यापक आत्मा साढे तीन हाथ-सा । जो संसारी जीव माने उसे संसारी जीव-सा प्रतीत होता है । स्त्री मानने वाले को स्त्री-सा,पुरुष मानने वाले को पुरुष-सा, आस्तिक मानने वाले को आस्तिक-सा और 'है' को 'है' सा और नहीं को 'नही' सा दिखता हूँ । यह सब प्रपंच देश के विकल्प है । जिसकी जैसी धारणा होती है उसके लिए 'मैं'आत्मा वैसे ही प्रतीत होता हूँ । वस्तुतः वैसा 'मैं'नहीं हूँ । यदि 'मैं' रहकर, आत्मा रहकर मैं को देखा तो मैं आत्मा में किसी भी प्रकार का कोई एक भी लक्षण नहीं है । किन्तु अपने को कुछ मानकर देखा जायगा तो वैसा दिखाई पड़ता है ।

जाकी रही भावना जैसी, स्वयं सूरत देखी तिन तैसी ।

आदि अन्त कोउ जासु न पावा, मति अनुमान निगम असगावा ।।

जैसे रंग का चशमा होगा वह वस्तु, वस्त्र उसी रंग का दिखाई पड़ता है । जैसे ढ़ंग का दर्पण होता है व्यक्ति का रूप भी उसी ढंग का लम्बा,छोटा,मोटा, पतला दिखाई पड़ता है । वह जैसा है वैसा ही है । अपनी बुद्धि के अनुसार वेद,शास्त्र,श्रुति, स्मृति,पुराण इतिहास उसका वर्णन करते है एवं नेति-नेति बतला कर चुप हो जाते है । इसलिए मैं आत्मा अलक्षण हूँ कोई भी मुझ आत्मा का वास्तविक स्वरूप बताने में समर्थ नहीं है कि मैं आत्मा ऐसा हूँ । मेरे अलावा श्रुति स्मृतियां एवं प्रपंच सता हीन है सब विकल्प ही तो है और सता हीन विकल्प मुझे क्या बता सकेंगे ?

समस्त प्रपंच का अधिष्ठान 'है' तत्व है । अधिष्ठान उसको कहते है जिसके बिना प्रपंच का प्रतीति न हो । अधिष्ठान के अनुरूप ही अध्यस्त की प्रतीति होती है । स्वर्ण के बिना आभूषण नहीं रह सकते । इसलिए आभूषणों का अधिष्ठान एक स्वर्ण ही सतावान पदार्थ है । 'है' के बिना कुछ है ही नहीं । प्रपंच है, देह है, मन है, बुद्धि है,चित है, सत्य है,मिथ्या है, असत्य है, जड़ है, चेतन है, व्यापक है, खण्ड है, पूर्ण है, अपूर्ण है, जीव है, ब्रह्म है । एक तृण से लेकर ब्रह्मादिक पर्यन्त जो कुछ दृश्य प्रपंच है ,मन,वाणी का जो भी विषय है सब इसी 'है' सत्ता पर अध्यस्त एवं कल्पित है । स्वर्ण के बिना जैसे आभूषण नहीं, इसी तरह 'है' के बिना प्रपंच नहीं ।

'ऐसा है' इस प्रकार सब कहते है किन्तु 'है' के बिना 'ऐसा' को कौन सिद्ध कर सकेगा । 'ऐसा' जो शब्द है उसको कौन सिद्ध करता है ? 'है' । तो फिर ऐसा-वैसा कुछ नहीं है, 'है' ही है । तो भैया ! यह सब अस्तित्व ही सर्वत्र सर्व रूपों में भास रहा है । प्रपंच नहीं भास रहा है । स्वर्ण

ही सब आकारों में भास रहा है अलंकार नहीं भास रहे हैं । तो 'मैं' अस्तित्व आत्मा ही हूँ । 'है' के बिना हाथ है, पैर है, आंख है, कान है, देह है । किसी भी देहादिक की सिद्धि अस्तित्व के बिना, 'है' के बिना, मैं आत्मा के बिना नहीं हो सकती । प्रपंच कहने से अस्तित्व का ही बोध होता है प्रपंच का बोध नहीं होता ।

भगवान आत्मा तो जैसा है वह वैसा ही है किन्तु लोगों की भावना को अनुरूप उन्हें वैसा कल्पित रूप दिखाई पड़ता है और वे अज्ञानी उस रूप में ही आग्रह करते हैं । जो जैसा अपने को हाथ, पैर , मुख, सिर, जन्म-मृत्यु वाला मानता है, वही मान्यता वह भगवान पर भी आरोपित करता है । यह अटल सिद्धान्त है । अगर मैं अपने को हिन्दु मानता हूँ तो मेरे भगवान को भी चोटी , जनेउ (शिखा, सूत्र) चन्दन, ब्याह पत्नी, बच्चे होना चाहिए । मगर भगवान आत्मा जैसा है वैसा ही है । वह तो असंग,अछूता, निराकार ही है । हमारा ही विकल्प, हमारी ही भावना है । मगर वह तो जैसा है वैसा ही है ।

अगर सचाई किसी की जानना है तो उसके जैसा होकर ही जान सकते है । चोर का पता लगाने हेतु चोरों के साथ रहकर चोरी कर जेल जाना पड़ता है,तभी सी.आई.डी उस असली चोर का राज जान पाता है ।

नदी सागर में मिलकर ही सागर को जान पाती है पृथक् रहकर नहीं । इसी प्रकार भगवान होकर ,आत्मा होकर ही आत्मा को जान सकते है । फिर क्या जाना ? जानत तुमहि तुमहि होहि जाई । ब्रह्मवित ब्रह्मैव भवति ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।
मुढोऽयं नाभि जानाति लोको माम अजम् अव्ययम् ।।

- गीता ७/२५

मैं अपनी नाम, रूप योग माया से ढका रहने के कारण सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ । इसलिए यह अज्ञानी लोग मुझ जन्म रहित, मृत्यु रहित, अजन्मा, अविनाशी स्वरूप को नहीं जान पाते हैं एवं उसी नाम रूप वाले मेरे मिथ्या रूप को ही सत्य समझ उपासना करते रहते हैं ।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।

- गीता १५/११

विवेक, वैराग्य साधन सम्पन्न एवं वेदान्त श्रवण, मनन के अभाव में साधक परमात्मा का अनुभव नहीं कर पाते हैं ।

अपने 'मैं' को कुछ उपाधि वाला मानकर आत्मा का पता नहीं लग सकता ।'मैं' को मैं ही जानना यही वास्तविक आत्मा होना है । कुछ भी न बनना ,कुछ भी न होना ही आत्मज्ञान,आत्म साक्षात्कार, आत्मदर्शन है ।और मैं को कुछ द्रष्टा,ब्रह्म,जीव, सत्, चित् मानलेना ही बनना है । यह बनावटी पना है, यह पूर्णता का बोधक नहीं है । यदि सत कहा तो असत् ,चित् कहा तो जड़,आत्मा कहा तो अनात्मा , पूर्ण कहा तो अपूर्ण, द्रष्टा कहा तो दृश्य को, विकल्प को सत्ताहीन को सत्ता देना हो जाएगा । तो दरअसल आत्मा अलक्षण है । अलक्षण का दर्शन करना है तो फिर जैसे हो वैसे ही रहो कुछ अलग से मत बनना । जहां तुमने मान लिया कि पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, ब्राह्मण हूँ , हिन्दु हूँ तो इन सबका लक्षण जगत में प्रसिद्ध है । मैं आत्मा 'नाचीज' हूँ अलक्षण हूँ । जीव कहा तो जीव का भी लक्षण है ,ईश्वर कहा तो उसका भी लक्षण है अल्पज्ञ,सर्वज्ञ आदि । जिसका लक्षण है वह एक चीज है और परमात्मा नाचीज है, इसलिए अलक्षण है । इस प्रपंच का भी कोई लक्षण नहीं । क्योंकि प्रपंच का अधिष्ठान मैं आत्मा अलक्षण हूँ तो फिर इस अध्यस्त प्रपंच की भी अलक्षणता सिद्ध हो जाती है । और जब प्रपंच है ही नहीं तो मुझ आत्मा का लक्षण कौन बतलाएगा

की आत्मा ऐसा है । कोई नहीं । अतः मैं आत्मा अलक्षण हूँ । कोई हो तभी तो बताएगा । कोई बताने वाला नहीं मेरे अतिरिक्त । इसलिए मैं भगवान आत्मा अलक्षण हूँ ।

•••

अव्यक्तोऽयम् अचिन्त्योऽयम्

गीता २/२५

यह आत्मा अव्यक्त एवं अचिन्त्य है । अर्थात् मैं आत्मा अचिन्त्य हूँ । अचिन्त्य उसे कहते है जिसका चिन्तन किसी प्रकार किसीके द्वारा कभी भी नहीं किया जासके । तब आत्म चिन्तन कैसे किया जाय? जिसका चिन्तन न किया जा सके उसे अचिन्त्य कहते है । तब आत्म चिन्तन, भगवत् चिन्तन ,परमात्म चिन्तन क्यों कहा जाता है ?

एक चिन्तन होता है चित्त के द्वारा देखी वस्तु का । यदि चित्त द्वारा आत्म चिन्तन माना जाय तो वह अचिन्त्य नहीं है । क्योंकि चित्त से जो चिन्तन होता है प्रपंच का ही चिन्तन होता है । बिना चित्त के जो चिन्तन होता है वह चित का ,आत्मा का चिन्तन है । जो वैकल्पिक स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ होता है उसका चिन्तन चित्त से होता है । चित्त से चिन्तन भी अपने इष्ट का तभी हो सकता है जब चित्त निरोध होगा । जितनी देर चित्त निरोध होगा उतने समय के लिये ही चित्त से अनुकूल वस्तु या व्यक्ति का चिन्तन हो सकेगा । जैसे ही चित्त चंचल हुआ वह इष्ट भी गया । सुषुप्ति में तो चित्त भी नहीं एवं उसका चिन्त्य इष्ट भी नहीं रहेगा । अन्य व्यवहार काल एवं स्वप्न काल में भी वह इष्ट का चिन्तन निरन्तर नहीं रह सकेगा ।

तो आत्मा अचिन्त्य कहलाता है और प्रपंच चिन्त्य कहलाती है । चित्त द्वारा जो चिन्तन किया जाता है वह देवी-देवता हो या नर- नारी हो

वह काल्पनिक ही होता है । वह नश्वर , परिच्छिन्न एवं किसी चित्रकार, मूर्तिकार के मन की कल्पना का ही चिन्तन है । वह राम, कृष्ण की मूर्ति है या शंकर,विष्णु , दुर्गा , गणेश , हनुमान की सब काल्पनिक है । क्योंकि मूर्तिकार, चित्र बनाने वाले ने उसे देखा नहीं है, केवल सुनकर, कल्पना कर उसे बना दिया है । फिर मन्दिर में भी जो मूर्तियां खड़ी कर रखी है वह भी आप कहां देख पाते है मूर्ति को तो कपड़े,अलंकार , मुकुट, चन्दन लेपन श्रृगांर द्वारा ढक दिया जाता है । तो दर्शन भगवान की कल्पित मूर्ति के भी नहीं होते बल्कि कपड़े, अलंकार चन्दन के एवं बिजली संचालित कलाकारी के ही दर्शन होते हैं । पुजारी जब मूर्ति को स्नान कराता है , कपड़े से पौछता है नूतन वस्त्र धारण कराता है बस तभी वह धातु मूर्ति के दर्शन करता है । वह आकार सत्य नहीं है इसलिए केनोपनिषद में कहा है

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदैव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।। १/६

जिसको कोई भी चक्षुके द्वारा नहीं देख सकता । चक्षु से देखे जाने वाले जिस पदार्थ की, जिस रूप की, जिस व्यक्ति की उपासना की जाती है वह ब्रह्म का वास्तविक रूप नहीं है । परमात्मा चक्षु इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न है अर्थात् वह दृश्य नहीं है । बल्कि जिसकी शक्ति का अंश पाकर नेत्र रूप देखने में समर्थ होते है वह ब्रह्म है । अब तुम उस ब्रह्म की आत्मा रूप से ही जानने की जिज्ञासा करना '**तत विजिज्ञासस्व तद ब्रह्मेति**' ,वह ब्रह्म है । इसी बात को भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को भी समझा रहे है -

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको नामजमव्ययम ।।

- गीता ७/२५

अज्ञानी जन समुदाय मुझ अजन्मा अविनाशी आत्मा को नहीं जानते है और मेरा जन्म दिन एवं निर्वाण दिन अर्थात मुझे जन्मने वाला और मरने वाला समझते है क्योंकि उनकी बुद्धि पर अविद्या अज्ञान का पर्दा है एवं मेरे ऊपर मेरी योग माया का पर्दा पडा है ।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।

- गीता ५/१५

अज्ञान के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है उसी से सब अज्ञानी मनुष्य नश्वर नाम , रूप में मोहित हो उपासना करते रहते हैं ।

मुकुर मलिन अरू नयन विहीना ।
राम रूप देखहि किमि दीना ।।

'मैं' आत्मा अचिन्त्य हूँ । अचिन्त्य का चिन्तन तो वही कर सकता है जिसने अचिन्त्य का दर्शन किया है । अचिन्त्य का चिन्तन करने वाले तो कोई विरले ही होते हैं । क्योंकि अचिन्त्य का चिन्तन बिना स्वरूपात्मा के ज्ञान हुए पूर्णतः असम्भव है । अचिन्त्य के चिन्तन के लिये देश, काल , आसन , एकान्त की जरूरत नहीं होती है । भगवान आत्मा का चिन्तन हर वक्त , हर स्थिति में हो सकता है । अचिन्त्य का चिन्तन तो दर्शन करके ही हो सकता है ।

चिन्त्य का चिन्तन तो सुनकर ही होता है । सुना है राम का रूप, कृष्ण का रूप , शंकर का रूप कि वे धनुषधारी , मुरलीधारी, त्रिशूल धारी है । तो सुन करके वैसे रंग आकृति अस्त्र, सस्त्र की कल्पना करली जाती है और फिर आंख बन्द कर उसका चित्त द्वारा चिन्तन करने का कठिन अभ्यास किया जाता है । उस आकार प्रकार वाले इष्ट का आधार चित्त है । तो जब तक चित्त एकाग्र नहीं होगा उनके चित्त से कल्पित इष्ट देव भी

उनके ध्यान में प्रकट नहीं हो सकेंगे । क्योंकि वह चित्त का ही माना हुआ है । और जब ध्यान करने बैठते हैं तब चित्त चंचल हो जाता है तो इष्ट का ध्यान न होने से मन में बहुत दुःख ग्लानि होती है । चित्त अशांत हो जाता है । जब चित्त ही स्थिर नहीं तो इष्ट कहां रहेगा ? च्न्रित्य का चिन्तन बिना मन एकाग्र हुए हो नहीं सकता ।

अच्न्रित्य का चिन्तन करने का तो कभी विचार किया ही नहीं और च्न्रित्य के चिन्तन में मन एकाग्र नहीं होता इस तरह दोनों तरफ से दुःखी रहता है ।

अच्न्रित्य आत्मा के चिन्तन में उसका मन नहीं लग सकता जिसकी काल्पनिक नाम, रूप, गुण, लीला वाले भगवान में निष्ठा होती है । जिसकी सगुण भगवान में निष्ठा है वह अच्न्रित्य परमात्मा से अभी बहुत दूर है । प्रायः अधिकतर लोग नाम,रूप , गुण, लीला वाले भगवान के ही चिन्तन करने वाले पाये जाते हैं और उन्हें कितनी शान्ति मिलती है उसके वे ही साक्षी हैं ।

चित्त निरोध के द्वारा जो ध्यान लगाया जाता है उसमें देश काल की सीमा है ?कहां लगाया जाय ? कहां पर बैठ चिन्तन किया जाए ?कब किया जाए ? एकान्त एवं शान्त स्थल हो । बाहरी कोई आवाज न हो । आसन न ऊंचा हो न नीचा हो । काया, शिर और गले को समान व अचल कर स्थिर होकर नाशिका के अग्रभाग पर ध्यान जमाकर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ मेरे परायण होकर स्थित होवे । शुद्ध भुमि में कुशा,मृगछाला और कम्बलादि वस्त्र बिछाकर अपने आसन को स्थिर स्थापन करे । (गीता अध्याय ६-२१,२२,२३)

किन्तु आत्मा के चिन्तन हेतु किसी समय आसन, देश, काल का बन्धन नहीं है । क्योंकि अच्न्रित्य के चिन्तन में चित्त एकाग्र हो तब क्या

एवं चंचल हो तब क्या ?चित्त की एकाग्रता चंचलता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं । संसार के ज्ञान के लिए चित्त की एकाग्रता आवश्यक है, चंचलता से संसार की किसी विषय की सिद्धि नहीं हो सकेगी । किन्तु आत्मा तो चित्त की एकाग्रता व चंचलता का भी साक्षी है । अच्नित्य पद में स्थित होकर ही संसार के सभी जीव अपना समस्त कार्य करते है ।

मैं स्वरूपस्थ हूँ या नहीं इसका क्या प्रमाण ? इसका यही प्रमाण है कि विचार के उदय और अनुदय में , विकल्प के उदय और अनुदय में , मन के चंचल और शान्त होने में जब हर्ष-शोक न हो, तब जानना की मैं स्वरूपस्थ हूँ । हर्ष-शोक ग्लानि और प्रसन्नता तभी होगी जब मन देहभाव,जीवभाव, कर्ता-भोक्ता भाव में आप स्थिर होंगे । मन चला जावे तो भी मन में ग्लानि न हो, उसको रोकने का प्रयास न हो, मन के आने पर हर्ष न हो यही स्वरूप स्थिति का प्रमाण है । मन का अनिरोध ही तो अनभ्यास है ।

यह जो सहज स्वभावतः बिना प्रयास के सबको सिद्ध है । सबको करने में सुगम है । जिसके चिन्तन में सिर पर बोझा न लगे, सिर हल्का हो जाय, किसी प्रकार का भार न हो । वह चिन्तन आत्मा का है । सहज चिन्तन तो प्रत्येक कार्य के समय होने वाला है तो भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च । - गीता : ८/७

सर्व काल मेरा स्मरण भी कर और युद्ध भी कर । युद्ध में अपनी रक्षा, घोड़ों की रक्षा, रथ की रक्षा,सारथी की रक्षा आदि अनेक बातों का ध्यान, चिन्तन ,विचार रखना पड़ता है, साथ शत्रु को मारना, उसके सारथी को, घोड़ों को मारना, उसके रथ को नष्ट करना आदि कामों की जिम्मेदारी रहती है । यह सब कार्य बिना मन को उस और लगाये हो नहीं सकते । फिर

भगवान में भी निरन्तर मन लगाना है । यह नहीं कि युद्ध समय के प्रथम या बाद में मेरा स्मरण भी करते रहना ऐसा नहीं कहा बल्कि 'सर्वेषु कालेषु' अर्थात सर्वकाल में - जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मुर्छा, ध्यान व समाधि में तथा सुख व दुःख में मेरा स्मरण भी कर और युद्ध में भी सदा डटा रहे, रण छोड भागना नहीं । यह कैसा चिन्तन है ? माम का अर्थ आत्मा ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशय स्थितः ।
अहमादिश्च मध्य च भूतानामन्त एव च ॥

- गीता १० /२०

समस्त चराचर में जो स्थित है वह आत्मा 'मैं' हूँ । मैं ही समस्त भूत समुदाय का आदि ,मध्य तथा अन्त का अधिष्ठान हूँ सचराचर जगत मुझ आत्मा में ही अध्यस्त है ।

सर्वकाल में उसीका चिन्तन चल सकता है, जो सर्वकाल में रहता होगा । जो कभी रहे कभी न रहे उसका चिन्तन सर्वकाल में नहीं चल सकता और संसारीक काम करते समय, युद्ध करते समय भी निरन्तर चिन्तन नहीं चल सकता क्योंकि मन एक है वह एक समय में दो पृथक कार्य नहीं कर सकता । एक समय में एक ही काम करेगा चाहे भोजन करे, मल-मूत्र त्याग करे, शयन करे चाहे ध्यान करे, समाधि अथवा युद्ध करे कोई एक ही कार्य किया जा सकता है । किन्तु भगवान कहते हैं कि युद्ध भी कर एवं मेरा स्मरण भी निरन्तर कर यह कार्य तो भिन्न भिन्न है । यह चिन्तन व कार्य चित्त के द्वारा होने वाला नहीं है क्योंकि चित्त भी सर्वकाल नहीं रहता है तो वह सर्वकाल चिन्तन कैसे कर सकेगा ?

इससे स्पष्ट होता है कि भगवत चिन्तन का सम्बन्ध मन से नहीं है । इसलिए जो सत्ता सर्वकाल में होगी उसीके द्वारा सर्वकाल का चिन्तन हो सकेगा । यदि समाधि अवस्था में आत्मचिन्तन होता है तो समाधि में

स्थित रहकर युद्ध कैसे कर सकेगा ? युद्ध के लिए तो मन को समाधि से निकाल कर बर्हिमुख हो युद्ध के मैदान में खड़ा करना पड़ेगा । फिर असमाधि काल में आत्म चिन्तन नहीं हो सकेगा । समाधि में तो देखना, सुनना, चलना, आदि किसी प्रकार की बाह्य क्रिया नहीं हो सकती है जैसा की लोग मानते हैं । क्योंकि समाधि में मन निरूद्ध हो जाने से समस्त बाहरी क्रियांए भी रुक जावेगी । तब युद्ध कौन करेगा ?

सर्वकाल में चिन्तन चलने की बात का मतलब खाते, पीते,चलते, काम करते , शयन करते, व्यापार करते, पढाई लिखाई करते ,परस्पर स्त्री पुरुष से प्रेम करते, युद्ध करते, आत्म चिन्तन होता रहे । क्योंकि सर्वकाल की मर्यादा भी रखना है तो कोई कार्य छोड़ा नहीं जा सकता ।

तो सर्वकाल में किसका चिन्तन व कौन करें ? ‘अलक्षणम्’ परमात्मा का चिन्तन करें तो उसका कोई लक्षण ही नहीं; क्योंकि ‘अलक्षणम्’ लक्षण वाले का चिन्तन हर काल में नही हो सकता । जब मैं आत्मा अलक्षण हूँ तो मेरा चिन्तन भी अलक्षण है । लक्षण वाले का चिन्तन परमात्मा का चिन्तन नहीं । उस नाशवान का चिन्तन करने से कोई चिन्तक का लाभ भी नहीं ।

देखो कौन सा समय है जब मैं आत्मा नहीं रहता हूँ ? मैं आत्मा ही जाग्रत , स्वप्न , सुषुप्ति ,मुर्छा , ध्यान , समाधि अवस्था में विद्यमान रहता हूँ । ‘मैं’ आत्मा जो सर्वकाल में रहने वाला है उसकी यहां अनुभूति कराई जा रही है अर्थात् ‘एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म’‘नेह नानास्ति किन्चन’ अर्थात ‘मैं’ आत्मा हूँ इस निष्ठा को मन में इस प्रकार स्थापित करदे जैसे देह के नाम, जाति, पिता,माता,घर का स्मरण किसी के द्वारा न पूछने पर भी हृदय में छुपा हुआ स्मरण बना रहता है ।

जो 'मैं' जाग्रत में वही 'मैं' स्वप्न में, जो 'मैं' जाग्रत, स्वप्न में वही 'मैं' सुषुप्ति में । इस प्रकार मैं सर्वकाल विद्यमान रहता हूँ । अगर मैं सर्वकाल न रहता तो इस बीते दिन की घटना, रात्रि के स्वप्न एवं गहरी निद्रा के सुख व अज्ञान का कौन अनुभव करता ? तो मैं कभी सोया नहीं । जागना , सोना मन , बुद्धि का है । इस प्रकार 'मैं' आत्मा तीनों अवस्थाओं में एकरस रहता हूँ ।

अब देखो ! भूतकाल में मैं था, आज वर्तमान में मैं हूँ तथा भविष्य काल में मैं रहूँगा । यदि कहो कि भूतकाल में थे इसका क्या प्रमाण ? तो नहीं था इसका भी आपके पास क्या प्रमाण ? 'नहीं था' को प्रमाणित जो 'नहीं था' उसके द्वारा होगा या जो था वह 'नहीं था'को प्रमाणित करेगा ? जो था उसने ही जाना । तो मैं के अभाव का ज्ञाता मैं ही हूँ ।

हे जिज्ञासुओं ! भगवान का अनुभव करने के लिये, जानने के लिये तुमको किसी प्रमाण की जरूरत नहीं है । क्योंकि मैं आत्मा अप्रमेय होने से मन,वाणी का विषय नहीं । जो पदार्थ सत्य, सनातन होता है उसको किसी अन्य प्रमाण से प्रमाणित नहीं किया जा सकता । क्योंकि सत्य के अतिरिक्त जो भी होगा वह सब असत्य ही होगा । असत्य द्वारा सत्य को सिद्ध नहीं कर सकते । चेतन से भिन्न जड एवं आनन्द से भिन्न दुःख, सत्य आत्मा को प्रमाणित नहीं कर सकते । क्या प्रकाश को अन्धकार प्रमाणित कर सकता है ? कभी नहीं । सत्य का प्रमाता जानने वाला स्वयं सत्य ही है । मैं जैसा हूँ वैसा ही हूँ । मैं का प्रमाता मैं ही हूँ । अहम् द्वारा ही अहम् का ज्ञान होता है ।

भगवान कृष्ण जैसे त्रिभंगी टेढे है तो उनका उपदेश भी टेढ़ा है । गीता का उपदेश का समझना उनका ठीक अर्थ लगाना साधारण नहीं है । शास्त्रों के ठीक अर्थ समझने के लिये बुद्धिमान और विद्वान् होने की जरूरत

है । तभी वेदान्त ग्रन्थों का ठीक अर्थ लगा सकेंगे । पहले संस्कृत पढ़ो, व्याकरण पढ़ो फिर न्याय शास्त्र पढ़ो, फिर गीता, उपनिषद, ब्रह्मसूत्र पढ़ो । फिर वेदान्त फिलोसफी, वेदान्त ग्रन्थ तुम्हारी समझ में आ सकेंगे । शास्त्र पढ़कर भी इतना हि जनने में आएगा कि तुम देह नहीं हो, तुम जीव नहीं हो, तुम एक व्यापक ब्रह्म हो । इतना परिश्रम करके यह तीन बात ही जान सकेंगे । जो सद्गुरु बिना परिश्रम के ही दिन रात यही समझारहे हैं कि तुम द्रष्टा साक्षी आत्मा हो। वर्तमान में कठिन संस्कृत ग्रन्थों की सरल हिन्दी महापुरुषों ने बनादी है जैसे विचार चन्द्रोदय, पंचीकरण, विचार सागर, वृत्ति प्रभाकर, पंचदशी, योगवशिष्ठ, पक्षपात रहित अनुभव प्रकाशादि ।

जबतक सद्गुरु की कृपा नहीं होती तब तक ग्रन्थों से कुछ भी समझ में नहीं आएगा । चाहे सारे जीवन रामायण, गीता, भागवत, उपनिषद पढ़ो । अर्थ बिना सब व्यर्थ परिश्रम मात्र है । पढ़ने मात्र से कल्याण होता तो टेपरेकर्ड, कैसिटों, सी.डी, आडिओ, विडीओं एवं ग्रन्थों का प्रथम उद्धार हो जाता क्योंकि उनमें सब भरा हुआ है । हम तुम तो भुल सकते हैं, भुल जाते है यदि नियमित अभ्यास न करे तो । स्वर व्यंजन की भूल हो जाती है लेकिन वे ग्रन्थ एवं कैसिटे न भूलते है न गल्ती होती है ।

सद्गुरु मिल जाने पर फिर ग्रन्थों की जरूरत भी नहीं रहती ।

तात्पर्य है कि वेद, शास्त्र वाणी रूप ही है और परमात्मा वाणी से परे हैं । इसकी जब वहां पहुंच ही नहीं है तब पहुंचे हुए ज्ञानी सन्तों के लिये इनकी विधि निषेध बातों को सुनने की भी क्या जरूरत है ? उनके लिए व्यर्थ ही तो है । हां वेद शास्त्र व्यर्थ नहीं है पर इनके पढ़ने का यह फल है कि मैं संसारी जीव नहीं हूँ । मैं व्यापक ब्रह्म हूँ ।

एक बार पंजाब फरीट कोट में एक फरीद नाम के फकीर रहते थे । उनसे मिलने शेखशादी पहुंचे । मिया शेखशादी ने देखा की उन फकीर के

चार पाई के चारों पायों के नीचे कुछ कपड़े में बन्धा रखा है । मिया शेखशादी ने पुछा बाबा आपकी खाट के चारों पैरों के नीचे क्या बन्धा रखा है । फरीद बाबा ने कहा ये हमारे धर्म ग्रन्थ है तौरेत, जबूर, इन्जील और कुरान । ये हमें रात रात चैन से सोने नहीं देते बड़े शोर मचाते हैं कि यह करो यह मत करो । इनके विधि निषेध के हो हल्ला के विचार में, चिन्तन में हम सो नहीं पाते थे । कोई सत्य-असत्य का निर्णय नहीं कर पाते थे । अब हमें मुर्सद (सद्‌गुरु) की मेहर (कृपा) हो गई तो बात समझ में आ गई । अब हमें इनकी कोई जरूरत नहीं । इसलिए हमने उन्हें चारों पायों के नीचे दबा रखा है कि चुपचाप शान्त दबे पड़े रहो, बेकार बिना समझे शोर मचाने की जरूरत नहीं है ।

जब तक मुर्सद की मेहर नहीं हुई थी तब तक इन किताबों ने मुझे कुछ नहीं बताया और जबकि मुर्सद की मेहर हो चुकी है तब इनकी मुझे जरूरत नहीं है ।

सबकी अन्तिम मन्जिल है मैं ब्रह्म हूँ, मैं आत्मा हूँ । इसका ही अनुभव करना है, इसका ही चिन्तन करना है, इसे ही समझना है, इसे ही देखना है ।

आत्मा को जानने के लिये विद्वान, पंड़ित होने की कोई जरूरत नहीं है । बड़े से बड़ा विद्वान हो या मूर्ख अपने को सभी **'मैं हूँ'** कहते हैं । इसलिये **'मैं हूँ'** को जानने के लिये विद्वान होना कोई आवश्यक नहीं है । जानना तो इतना ही है कि मैं आत्मा हूँ , मैं द्रष्टा, साक्षी हूँ । चार वेद अठ्ठारह पुराण दोसौ पन्द्रह उपनिषद पढ़कर इसी बात को जानना है । खोदा पहाड़ और निकली चुहिया । चाहे जिन्दगी भर पढ़ो जानने के लिये बस यही है । मैं को जानने के लिए मैं ही साधन है । मैं का मैं ही प्रमाता हूँ । मैं को जानने के लिये अन्य कोई साधन भजन नहीं है ।

मैं सर्वकाल में हूँ । आप्रेशन के समय २ घन्टें बेहोशी को भी मैं बताता हूँ, होश आने पर कि कुछ पता नहीं चला । यदि मैं भी बेहोश होता तो दो घन्टें की बेहोशी का भी पता न चलता । उस वक्त बताने के साधन अन्तःकरण ,वाणी नहीं थे । इसलिये मन के होश आने पर इन साधनों के द्वारा वह किया हुआ अनुभव स्मरण कर बताया गया ।

मैं आत्मा भूत, वर्तमान, भविष्य, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मुर्छा, ध्यान, समाधि के समय ज्यों का त्यों एकरस ही रहता हूँ । मुझ आत्मा के स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता ।

मैं आत्मा हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं द्रष्टा,साक्षी हूँ यह चिन्तन भी चित्त का है । आत्मा के चिन्तन का सम्बन्ध चित्त से नहीं है क्योंकि चित्त सर्वकाल में नहीं रहता तथा उसके भिन्न-भिन्न क्रिया के समय चिन्तन भी उसी क्रिया के अनुरूप ही करना पड़ता है अन्यथा उस व्यवहार की सिद्धि नहीं हो सकेगी । आत्म चिन्तन का सम्बन्ध न आंख बन्द करने सेहै, न कान बंद करने से है । न किसी अवस्था विशेष से है । किसी प्रकार का चिन्तन न हो यही आत्म चिन्तन है । जब कोई चिन्तन का विषय नहीं रहेगा तब आत्मा स्वयं ही रहेगा ।

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।
अनिंङ न मनाभासं निष्पनं ब्रह्मतत्तदा ॥४६॥

माण्ड्क्योपनिषद गौ.पा.कारि.अद्वैत ५

जिस वक्त चित्त का लय न हो और चित्त विक्षिप्त भी न हो तो लय विक्षेप से रहित जो अवस्था है वही ब्राह्मी स्थिति है । यही अचल पद है और वही आत्मा मैं हूँ ।

चित्त के लय का क्या स्वरूप ? और चित्त की विक्षिप्तता का

क्या स्वरूप ? चित्त की चंचलता को चित्त का विक्षेप कहते हैं । और नींद का आजाना चित्त का लय है ।

अभी आप जो सुन रहे है यह न चित्त का विक्षेप दशा है न लय अवस्था । विक्षेप होता तो सुन ही नहीं पाते, श्रवण में तन्मय न हो पाते । यदि चित्त लय होता तो गर्दन झुक जाती निद्रा देवी सवार हो जाती । तो यह वर्तमान में आपकी स्थिति ब्राह्मी स्थिति है क्योंकि इस समय आपका मन विक्षेप एवं लय से मुक्त है । यही ब्राह्मी स्थिति है ।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वा स्यामन्त कालेऽपि ब्रह्म निर्वाण मृच्छति ॥

गीता २/७२

हे अर्जुन ! यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है । मैं ब्रह्म हूँ इस निष्ठा को प्राप्त होकर यह ज्ञानी कभी इस नाम, रूप दृश्य प्रपंच में सत्य एवं सुख बुद्धि कर आसक्त नहीं होता । और देह त्याग के समय में भी इस ब्रह्म निष्ठा में स्थित रहता हुआ ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है । फिर उसे सृष्टि काल में पुनः जन्म लेना नहीं पड़ता है ।

जाग्रत व स्वप्नावस्था का जो साक्षी है, वही स्वरूपस्थता है । अभी जो सुन रहे हो यह स्वरूप में स्थित होकर ही सुन रहे हो । व्यावहारिक जगत में भी तुम्हारे द्वारा जितने कर्म होते हैं वे सब स्वरूपस्थता में ही होते हैं ।

तो यही भगवान आत्मा का सर्वकाल में स्मरण है । क्रियाकाल में यह भी चिन्तन नहीं होता कि मैं आत्मा हूँ और चिन्तन करो कि मैं आत्मा हूँ तो फिर 'अचिन्त्य' नहीं । यही तो भगवान आत्मा का स्वरूप है कि यह भी स्मृति न रहे कि मैं आत्मा हूँ । यही आत्म चिन्तन है और यही

अच्चित्य पद है ।

जब लय विक्षेप नहीं तो मन कहां ? इसी वजह से अच्चित्य पद में स्थित होकर ही जगत प्रपंच का सारा काम होता है । अमनस्क पद में तो तुम स्थित हो । इस अमनस्क पद में स्थित होने के लिये क्या कोई साधन करते हो ? अरे भैया ! इस अमनस्क पद में तो तुम बिना प्रयास के बिना साधन के पहले से स्वाभाविक स्थित हो तो फिर हम और क्या करते है ? जिसमें तुम पहले से स्थित हो उसी स्थिति को पाने हेतु जो-जो तुम साधन करते हो उसको हम खतम करा देते हैं । तो तुम्हें बुरा लगता है कि यह कैसे स्वामीजी जो हमारी वर्षों की पूजा, पाठ, माला, तीर्थ, मन्दिर, उपवास आदि छुड़ा देते हैं । जबसे तुमने परमात्मा को पाने का साधन प्रारम्भ किया, कदम बढ़ाया उसी दिन तुम वहीं पर ही थे और कुछ साधन भजन न करो तब भी तुम वहीं हो । मगर तुम्हारा जो विकल्प था कि मैं अपने स्वरूप में स्थित हो जाऊं बस इसी व्यर्थ के विकल्प को संत महात्मा परमात्मा प्राप्ति हेतु सब साधन बेकार है ऐसा निश्चय करादेते हैं । **जहां पहुंचना चाहते हो वहां तुम पहले से ही खड़े हो, पहुंचे हुए हो और जिसे तुम पाना चाहते हो साधनों द्वारा, तपस्या द्वारा कष्ट पाकर वह तो तुम स्वयं हो ।**

अगर मैं तुम्हे यह विकल्प दूं कि मैं तुमको अपने पास से शक्तिपात कर दूंगा । तुम्हें मोक्ष दे दूंगा तो फिर इससे बड़ी दुनिया में कोई झूठ नहीं असत्य नहीं । फिर मैं ब्रह्मविद्या का प्रवक्ता नहीं ।

अरे ! तुम स्वयं भगवान हो, तुम्हे कौन क्या दे सकता है । ब्रह्म अखण्ड एवं सर्वव्यापक है वह तुम हो । भगवान का वास्तविक चिन्तन यही है कि **मैं ब्रह्म हूँ** ।

पाया कहे सो बावरा, खोया कहे सो कूर ।

पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों का त्यों भरपूर ।।

●●●

स्थितप्रज्ञ किसे कहते हैं ?

स्थित प्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषते किमसीत व्रजेत किम् ।।

- गीता : २/१५

अर्जुन पूछता है - हे भगवन् ! समाधि में स्थित परमात्मा को जो प्राप्त कर चुका है उस स्थिर बुद्धि पुरुष का क्या लक्षण है ? वह स्थिर बुद्धि वाला पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है ?

अर्जुन का प्रश्न यह प्रमाणित करता है कि स्थिर बुद्धि वाला पुरुष, जड़ समाधि का साधक नहीं है, बल्कि सहज समाधि वाला है । सहज समाधि वाला जो कुछ भी करता है वह समाधि ही होती है ।

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ।

उसका निश्चय रहता है मैं कुछ नहीं करता हूँ, मैं साक्षी मात्र हूँ ।

यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँ ल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।

- गीता : १८/१७

जिस ज्ञानी पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकार का कर्तृत्वाभिमान नहीं है तथा जिसकी सांसारिक पदार्थों में और कर्मों में बुद्धि लिपायमान नहीं होती है वह पुरुष सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता क्योंकि -

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वोत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

- गीता : १४/१९

जिस समय द्रष्टा पुरुष गुणों के अतिरिक्त माया के सिवा अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है और तीनों गुणों से अत्यन्त परे अपने सच्चिदानन्द घन आत्म स्वरूप को मैं रूप से जानता है उस समय वह मेरे को ही प्राप्त होता है ।

नैव किचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृहणन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

- गीता : ५/८-९

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

- गीता : २/२८

गुण विभाग एवं कर्म सब माया रचित है । ऐसा यथार्थ जानने वाले ज्ञानी पुरुष उनमें आसक्त नहीं होता बल्कि, देखते, सूंघते, छूते, सुनते, भोजन करते, जाते, शयन करते, बोलते, ग्रहण व त्याग करते हुए आंखों को खोलते बन्द करते यही जानता है कि मैं कुछ नहीं करता, इन्द्रियां ही अपने-अपने अर्थो, में स्वभाव में बरत रही है ।

भगवान बोले - हे अर्जुन ! जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग कर देता है और आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है । आत्मा में ही रमण करता है । और आत्मा में ही तृप्त रहता है । इसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता है । उसकाल में यह स्थितप्रज्ञ

कहलाता है । २-५५

दुःखों की प्राप्ति होने पर भी उसके मन में दुःख नहीं होता एवं सुखों की प्राप्ति में जो सर्वत्र निःस्पृह है तथा उसके राग, भय एवं क्रोध नष्ट हो जाते हैं ।

शुभ व अशुभ वस्तु को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है न द्वेष करता है । वह सर्वत्र स्नेह से रहित है । परमात्मा का साक्षात्कार करने से उसकी सब विषयों की आसक्ति भी समाप्त हो जाती है ।

- २/५६

जैसे कछुआ सब ओर से अपने अंग को समेट लेता वैसे ही यह पुरुष इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को सब प्रकार से हटा लेता है । २-५८

●●●

ध्यान

कुछ लोग ध्यान करने बैठते हैं जब उन्हें ध्यान में उनकी कल्पना के रूप का दर्शन हो जाता है तब तो वे बहुत प्रसन्न होते हैं और अपने प्रेमियों को गुरु को बताते हैं कि आज मैंने ध्यान में प्रकाश, रंग, ध्वनी, रूप का दर्शन किया । किन्तु जिस दिन उन्हें अपनी कल्पना के अनुरूप दर्शन नहीं हुए तो वे बहुत दुःखी हो जाते हैं कि आज उठते से किस का मुख देख लिया जो मेरे भगवान मेरे ध्यान में नहीं आये ।

अरे भैया! तुझे यदि देखना सुनना ही है तो उसके लिए क्यों कष्ट उठाता है वह तो खुली आखों से बिना प्रयास सहज दिखाई पड़ता ही है । सूर्य के प्रकाश को सभी देख लेते हैं । खुली आखों से भगवान के मन्दिर में भगवत मूर्ति को भी देखते हो तो मन में क्या भाव बना ? क्या मिला उस

मूर्ति के दर्शन से ? बस ५,१० पैसे उसके आगे फेंक दिये, गर्दन झुकाली और आगे चल पड़े । बृन्दावन, अयोध्या, हरिद्वार, ऋषिकेश, बद्री, केदार, जगन्नाथ, रामेश्वर, आदि स्थानों पर भगवान साकार खड़े हैं, पंडित दरवाजा खोल पर्दा हटा दर्शन करा देता हैं और आप भी कहते है चारों धाम के भगवान के दर्शन कर आये हैं । क्या अन्तर पड़ा खुली आखों से देखने से एवं ध्यान में कष्ट पाकर उन्हीं कल्पित मूर्ति आकार के दर्शन कर भी लिए तो आप में क्या वृद्धि हुई ? केवल अहंकार बढ़ा कि मुझे ध्यान में परमात्मा के दर्शन हुए । पर वह परमात्मा नहीं है जो तुम्हारे सम्मुख भिखारी की तरह खड़ा है और जिसे तुम कुछ पुष्प सूंघने को, जल पीने को, फल मिष्ठान्न खाने को दे देते हैं । परमात्मा तो द्रष्टा है जो तुम्हारे अन्दर बैठा हुआ ध्यान को अथवा सम्मुख मन्दिर मूर्ति को देख रहा है ।

ध्यान में कुछ देखने का विकल्प मत करो कि ध्यान में हमें कुछ दिखाई दे । यह ध्यान में कुछ दिखना तुम्हारे मन का विकल्प है यह ध्यान नहीं है । अज्ञानी उस ध्यान को ध्यान कहते हैं जिसमें उसे कुछ दिखाई दे । किसी गुरु के शब्द जाल में मत फंसो । जीवन थोड़ा है, बहुत तो व्यर्थ बीत गया है अब जो कुछ थोड़ा बचा है, उसे वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन में लगाओ । सच्चे सदगुरु नाम, रूप की आराधना से ऊपर उठाकर सत्य का साक्षात्कार करा देंगे ।

ध्यान में कुछ दिखाई देना आत्म चिन्तन में बाधक है । अगर कुछ दिखाई पड़े तो वहां मैं का तीर छोड़ उसे गिराकर मैं को देखो । जैसे रामकृष्ण परमहंस ने अपने गुरु तोतापुरीजी के कहने पर तलवार द्वारा ध्यान में आनेवाली काली के दो टुकड़े करडाले व कहा की मेरी आखरी दिवार हट गई जो परमात्मा व मेरे बीच रुकावट थी । ध्यान में जो दिखाई पड़े उसे मार ही डालो तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा । क्योंकि उसकी कोई स्वतंत्र

सिद्धि नहीं है वह तो तुम्हारी कल्पना का खेल था ।

परमात्मा के ध्यान में इन आंख, कान, मुंह का कोई महत्व नहीं चाहे खुली रहे या बन्द, भीतर रहे या बाहर । ध्यान में कुछ भी न दिखाई देने पर भी देखने वाला तो वहां रहता ही है तभी तो कहता है कि ध्यान में कुछ भी नहीं दिखाई दिया । अरे भैया ! जब कुछ भी नहीं दिखता तब मैं तो वहां दिखता हूँ या नहीं ।

यह कुछ न दिखाई देना ही तो मैं का दिखना है । कुछ दिखता है उसका भी अनुभव मैं ही करता हूँ और कुछ नहीं दिखाई पड़ता है तब भी मैं वहां उपस्थित ही रहता हूँ । दिखने व न दिखने को जो देखता है वह तो अवश्य वहां है यह तो स्वीकार करना ही होगा । अब विचारे कि दिखने व न दिखने को किसने देखा ? फिर जो ध्यान में आये व चले गये वह क्षणिक दर्शन सत्य है कि जो तीनों कालों में विद्यमान रहता है वह मैं सत्य आत्मा हूँ ।

याद रखो ! राम, कृष्ण, शंकर, दुर्गा ,विष्णु, गणेश, हनुमान, काली आदि कुछ दिखाई पड जावे तो उसे ब्रह्म चिन्तन, आत्म चिन्तन, स्वरूप चिन्तन में बाधक जान उधर से मुख दृष्टि घुमालो । उस मिथ्या रूप में आसक्त मत होओ । जैसे सती नारी किसी सुन्दर पुरुष की ओर दृष्टि करती नहीं है । उसी तरह अनन्य आत्मानिष्ठ बनो ।

तो दिखने व न दिखने को जो देखता है वह तो दिखता है वह मैं आत्मा हूँ, यही तो सहज सिद्ध ध्यान है । यही सच्चा ध्यान है । मगर लोग बिना सोचे समझे असली ध्यान की तो उपेक्षा करते हैं और नकली ध्यान की अपेक्षा करते हैं तथा ध्यान में कुछ न दिखाई पड़ने पर निराश होकर दुःखी हो जाते हैं ।

जिसके अज्ञान से जो चीज उत्पन्न सी प्रतीत होती है उसी के ज्ञान से उत्पन्न भ्रम नष्ट भी हो जाता है । अधिष्ठान रस्सी के अज्ञान से जिस सर्प भ्रम की प्रतीति होती है वह अधिष्ठान रस्सी ज्ञान से सर्प भ्रम निवृत भी हो जाता है ।

मुझ आत्मा के अज्ञान से ही संकल्प विकल्प रूप मन एवं प्रपंच उत्पन्न हुआ है तो आत्मा के ज्ञान से ही समस्त संकल्प विकल्प एवं जगत प्रपंच नष्ट हो जाएगा । जगत प्रपंच को नष्ट करने का इसके अतिरिक्त कोई अन्य साधन नहीं है । मैं ही इसका नाशक हूँ । जहां मैं का भाव जाग्रत हुआ वह संकल्प विकल्प का नाश हुआ ।

ध्यान में कुछ देखने का विकल्प मत करो कि हमें यह दिखाई दे, वह दिखाई दे । यह कुछ दिखना ध्यान नहीं यह मन का विकल्प है । कुछ न दिखना ही वास्तविक ध्यान है । वस्तुतः यही आत्म चिन्तन है । हालांकि बिना ज्ञान के इस प्रकार के चिन्तन में हर एक भक्त की आस्था नहीं हो सकती । क्योंकि अनादि काल से सभी लोगों की नाम, रूप में आस्था जमी हुई है । नाम, रूप में श्रद्धा रखते हैं तो आँख बन्द करके भी कल्पित नाम, रूप ही देखने की इच्छा करते है । यह गलत ध्यान है ।

जिस समय आत्म चिन्तन में बैठो उस समय, मैं ध्यान करने बैठा हूँ या ध्यान कर रहा हूँ, इसका भी चिन्तन न हो । क्योंकि मैं ध्यान करने बैठा हूँ यह विचार यह चिन्तन सर्वकाल वाला नहीं है । जो चिन्तन आत्मा का स्वभाव में होता है वही सर्वकालीन होता है और जो परभाव में होता है वह चिन्तन कभी-कभी होता है । तो आत्मा का चिन्तन सर्वकालीन है और सर्वकालीन होने से स्वभाव में ही होगा । स्व याने आत्मा, मैं होता है । जो चिन्तन आत्मभाव या मैं भाव में होता है वही चिन्तन सर्वकालीन होता है । उसीके लिये भगवान ने अर्जुन को कहा है - 'सर्व कालेषु

मामनुस्मर युद्धच'। अपने आत्मा को अन्य मानकर जो भी चिन्तन किया जाय राम, कृष्ण, शंकर, गणेश, हनुमान, गायत्री, वह सब पर का चिन्तन है और अपने आपको आत्मा ही मानकर 'मैं हूँ' मानकर चिन्तन किया जाय वह स्वभाव का चिन्तन कहलाता है। स्वभाव का चिन्तन करना नहीं पड़ता, परभाव का चिन्तन करना पड़ता है। जो करना पड़ता है वह सर्व कालीन चिन्तन नहीं हो सकता। चिन्तन करने बैठोगे तो अपने लिये स्थान, आसन, एकान्त खोजना होगा, आँख बन्द करना पड़ेगी, फिर भगवान का विकल्प करना होगा। मन की एकाग्रता नहीं होगी तो भी सब प्रयास व्यर्थ एवं परिणाम में बहुत दुःख होता है। तो बिना कुछ किये जो चिन्तन होता है वह स्वभाव में होता है, वह सहज चिन्तन है, वह सहज ध्यान है, वह सहज समाधि है , वह सहजानन्द है। और वही सहज पद है। जब तक आत्मतत्व का पूर्ण रूप से बोध न हो तब तक स्वभाव का चिन्तन असम्भव है।

ब्रह्मनैष्ठिक, आत्मनैष्ठिक का ब्रह्मचिन्तन, आत्मचिन्तन स्वभाव में होता है और आत्मवेत्ता का चिन्तन, ब्रह्मवेत्ता का चिन्तन परिच्छिन्न होता है। सर्व कालीन नहीं होता है। आत्मनैष्ठिक एवं आत्मवेत्ता में भेद समझे।

उत्तम के अस बस मन माही। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।

जैसे शादी वाले पतिदेव अथवा श्रीमती चाहे जैसा रूप हो सुन्दर या कुरूप किन्तु अन्य स्त्री अथवा पुरुष के प्रति स्वप्न में भी मन न जावे, ऐसे कोई बिरले ही तुम जैसे दम्पत्ति हो सकते हैं। अन्यथा सबका मन दूसरे के प्रति खिंच जाता है।

इसी तरह आत्मवेत्ता, ब्रह्मवेत्ता उन्हें कहते हैं जिन्होने बुद्धि से जानलिया मैं आत्मा हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, मैं साक्षी हूँ, मैं अखण्ड हूँ, मैं

व्यापक हूँ । किन्तु मैं के प्रति, आत्मा के प्रति निष्ठा हो जाना यह दूसरी बात है, बोध हो जाना यह आत्मनिष्ठा नहीं है । तो इस प्रकार जिसने बुद्धि द्वारा आत्मा के स्वरूप को जान लिया वह हुआ आत्मवेत्ता, ब्रह्मवेत्ता । और मैं में आत्मनिष्ठा, स्वरूप आत्मा में निष्ठा हो जाय उसको कहते है आत्मनैष्ठिक, ब्रह्मनैष्ठिक । ऐसे ब्रह्मनैष्ठिक शायद ही कभी कोई मिले । मिल जाय तो उसको पहचानना भी कठिन है; क्योंकि उनका बाहरी कोई लक्षण वेश, केश, मुण्डन, सम्प्रदाय नहीं होता है ।

जो ब्रह्मनैष्ठिक होते हैं वे किसी देवी, देवता, भगवान राम, कृष्ण, विष्णु, शंकर, दुर्गा, गणेश, शक्ति ब्रह्मादिक के तरफ आकर्षित नहीं होते, उनकी उपासना नहीं करते । उनके चमत्कारों को देख ब्रह्मनैष्ठिक का मन विचलित नहीं होता । उनको आत्मनैष्ठिक कहते हैं । जैसे पतिव्रता स्त्री के सम्मुख विष्णु आदि सुन्दर कहे जाने वाले उपस्थित हो जावे तो भी उनके तरफ वह नहीं देखती है । किन्तु आत्मनैष्ठिक पृथ्वी पर नहीं है । ऐसा न समझे कि बीज ही नाश हो गया । लेकिन बाजार नहीं है । जैसे चन्दन हर जंगल में नहीं, कस्तूरी हर मृग को नहीं, मुक्ता हर हाथी को नहीं, मणि हर सर्प को नहीं, हंस हर सरोवर में नहीं होते । इसी तरह सच्चे आत्मनैष्ठिक, ब्रह्मनैष्ठिक भी कहीं कहीं कोई एक होता है । इसलिये भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को इस आत्मनैष्ठिक के प्रति दुर्लभता बतलाते हैं ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्- आश्चर्यवत्वदति तथैवचान्यः ।
आश्चर्यवत् चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।

- गीता : २/२१

हे अर्जुन ! कोई एक महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की भाँति देखता है और वैसे ही कोई दूसरा पुरुष ही तत्त्व को आश्चर्य की तरह वर्णन करता है तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य

की तरह सुनता है । कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानते हैं ।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य ।
लब्धाऽऽश्चर्योज्ञाता कुशलानुशिष्टः ।।

- कठोप. १/२/७

यह आत्मतत्त्व बहुतों को तो सुनने के लिये भी नहीं मिलता, बहुत से लोग सुनकर भी नहीं समझपाते हैं । ऐसे गूढ़ आत्मतत्त्व का वर्णन करने वाले महापुरुष भी आश्चर्यमय है अर्थात् दुर्लभ '**समहात्मा सु दुर्लभः**' गीता -७/१९ । '**बड़े भाग्य पाइब सत्संगा । पुण्य पुञ्ज बिना मिले नहीं संन्ता**' ।

फिर सुनकर भी लोग ग्रहण नहीं कर पाते है; क्योंकि समझने वाले महात्मा कोई बिरले ही होते हैं जो उस आत्मतत्त्व का यथार्थ रूप से वर्णन करने वाले समर्थ वक्ता हो । आत्मदर्शी आचार्य के द्वारा उपदेश प्राप्त करके, तदानुसार मनन, निदिध्यासन करते-करते तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले पुरुष भी जगत में कोई बिरले ही होते हैं ।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।।

- गीता : १५/११

साधन चतुष्टय हो सद्‌गुरु के शरणापन्न मुमुक्षु वेदान्त तत्त्व का श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा हृदय के बुद्धि के साक्षी रूप से इस आत्मा को मैं रूप से जानते हैं । '**सर्वधि साक्षी भूतम्** '

किन्तु जिनका मल, विक्षेप दोष कर्म उपासना द्वारा नहीं हुआ,

अथवा जिन्हें सच्चे आत्मदर्शी सद्गुरु की प्राप्ति नहीं हुई ऐसे लोग विभिन्न प्रकार के मन कल्पित साधन, भजन, तपस्या करके भी हृदय स्थित आत्म देव को नहीं जान पाते हैं एवं बाहरी मिथ्या नाशवान नाम रूप की उपासना कर जीवन को गवां बैठते हैं ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

-गीता : ७/२५

जैसे परदनसीन मुसलमानी, बोहरान मारवाड़न घुंघट से सब देखती है, किन्तु उसे कोई नहीं देख पाता । इसी तरह अपने नाम, रूप योगमाया में सदा छिपा रहने के कारण राम, कृष्ण, विष्णु, शंकर, गणेष शक्ति माया के पार '**माया गुण गोपार**' मुझ सच्चिदानन्द ब्रह्म को वे नहीं जानपाते । यह अज्ञानी जन समुदाय मुझ अविनाशी परमेश्वर को जन्मने एवं मरने वाले मानते रहते हैं और कथा वाचक पंडित इन्ही लीला कथाओं को बड़े उत्साह से नाच, गान कर समझाते हैं । जिससे यह अज्ञानी लोग इन्ही माया के नाम, रूपों की लीलाओं में आसक्त हो रोते, गाते, चिल्लाते, ढूंढते फिरते भटकते रहते हैं ।

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

-गीता : ७/१५

नाम, रूप मेरी माया में जो आसक्त हो मोहित हो रहे हैं और जिनका आत्मा अनात्मा का ज्ञान नष्ट हो चुका है जो सत व मिथ्या का, कारण व कार्य का, अधिष्ठान व अध्यस्त का, विम्ब व प्रतिविम्ब का अन्तर नहीं जानते हैं एवं कारण को छोड़ कार्य में, अधिष्ठान को छोड़ अध्यस्त में, सत् को छोड़ असत् में, विम्ब को छोड़ प्रतिविम्ब में ही प्रीति

करने वाले हैं एवं अपने कामना की पूर्ति हेतु सकाम, पूजा, पाठ, यज्ञ, तप आदि करते हैं वे मूढ़ लोग मुझे नहीं जान पाते हैं ।

ब्रह्मनैष्ठिक का चिन्तन स्वाभाविक होता है । भगवान् से भिन्न, आत्मा से भिन्न तो कुछ अन्य नहीं है तब आत्मा किसका चिन्तन करे ?

संसार में पांच ही विषय है, इनमें किसी भी विषय का चिन्तन होगा तो स्वभाव में नहीं होगा, परभाव में होगा । परभाव के चिन्तन का यह प्रमाण है कि उस विषय भोग के समय कर्ता, क्रिया एवं कर्म रूप त्रिपुटी रहती है । एवं स्वभाव में विषयों के अनुभव काल में कर्ता-क्रिया-कर्म की त्रिपुटी नहीं रहती है । यही परभाव व स्वभाव का भेद है ।

अब कर्ता-क्रिया-कर्म किसे कहते हैं यह समझे । जैसे अभी यह घड़ी देख रहे हो । तो तुम हो गये घड़ी के देखने वाले कर्ता, घड़ी हुई कर्म, एवं देखना हो गया क्रिया ।

किसी विषय के अनुभव काल में या किसी विषय के व्यवहार काल में क्या ऐसा अनुभव होता है कि मैं देख रहा हूँ, मैं सुन रहा हूँ ? नहीं ! ऐसा क्रिया का बोध नहीं होता, याने कर्ता-कर्म-क्रिया तीनों का अभाव रहता है । जब तीनों का अभवा रहता है,तो भाव किसका रहता है ? 'मै' आत्मा का । उसी भाव का नाम होगया स्वभाव स्वरूप । मैं का, आत्मा का भाव रहगया । और आत्म देश में कर्ता-कर्म-क्रिया तीनों का अभाव हो जाता है । जब तीनों का अभाव हो जाता है तब वहाँ, देखना, सुनना, बोलना, चलना, उठना, बैठना यह व्यवहार ही कहाँ है ? '**एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म**' '**नेह नानास्ति किञ्चिनः**' । इसलिये प्रसान्त सागर लहरा रहा है । इस स्वाभाविक पद में क्रियमाण, प्रारब्ध, संचित् तीनों कर्मों का नाश हो जाता है । तो न स्वर्ग, न बैकुण्ठ, न सूर्यलोक, न चन्द्रलोक रहा ।

अपने को हिन्दु, ब्राह्मण आदि देह मानकर ही परभाव में कर्म

होता है और अपने को जीव मानकर उपासना करता है । बिना माने तो कर्म, उपासना हो ही नहीं सकते । स्वदेश में कोई अन्य नहीं तो कर्म, उपासना किस् उद्देश्य से करे ? तो मैं को कुछ मानकर कहते हो तो कुछ हो रहा है और स्व को जानकर कुछ नहीं हो रहा है । जब कुछ नहीं हो रहा है तो चिन्तन कहाँ हो रहा है । इसलिये तो कहा है मैं आत्मा अच्नित्य हूँ ।

देखने, सुनने का विकल्प तो परभाव में होता है किन्तु जब अनुभव करने का समय होता है तब स्वभाव में आ जाता हूँ । तभी तो कृष्ण ब्रह्मचारी एवं दुर्वासाजी भोग खाकर भी उपवासी रहे ।

एक बार गोपीयों ने कृष्ण के गुरु दुर्वासा के पूजन हेतु यमुना नदी के पार जाने की तैयारी की । अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट पकवान बनाये और यमुना तट पर पहुँची तो यमुना में पानी पूरा बढ़ा हुआ था तब उन्होंने कृष्ण से उसपार जाने के लिये कोई उपाय बताने को कहा । तब कृष्ण ने कहा कि तुम लोग यमुना से कहना की यदि कृष्ण बालब्रह्मचारी हो तो हे यमुना मैया हमे रास्ता दीजिये ।

यदि कृष्णो बालयति सर्व दोष विवर्जितः ।
तर्णिनों देहि मार्ग वै कालिन्दे सरिताम्बरे ।।

तुम लोग इस मन्त्र के बल से उसपार जा सकती हो । गोपीयों ने जाकर ऐसा ही कहा और यमुना नदी ने उसपार जाने का मार्ग देदिया । जल रहित पगडण्डी बनगई । जिसपर चलकर गोपियाँ उसपार चली गई । उसके बाद यमुना ज्यों की त्यों बहने लगी ।

गोपियों ने उसपार पहुँचकर महात्मा दुर्वासा के आश्रम में उनकी श्रद्धा, भक्ति से पूजा कि और उन्हें सभी गोपियों ने भोजन कराया । दुर्वासाजी भी दिलखोल कर बिना संकोच के खाते ही चले गये । सब

सामग्री समाप्त होगई । गोपियों के लिये प्रसाद भी नहीं बचा । अब गोपियाँ घर पहुँचने के लिये यमुना तट पहुँची तो फिर यमुना में बाढ़ भरपूर । फिर लौट दुर्वासा से यमुना पार जाने की युक्ति पूछी । तब दुर्वासा ने पूछा तुम आई किस प्रकार से थी ? गोपीयों ने कहा भगवान श्रीकृष्ण ने हमे एक मन्त्र दिया था, उसी मन्त्र के बल से हमे इस तट पर आने का मार्ग मिलगया था ।

दुर्वासा ने पूछा वह क्या मन्त्र था ? गोपीयों ने बता दिया की कृष्ण बाल ब्रह्मचारी हो तो हे यमुना ! हमें रास्ता दीजिये । तब दुर्वासा ने कहा अच्छा तो अब यमुना से हमारा यह मन्त्र कहना कि यदि महात्मा दुर्वासा ने आजतक द्रुब घास के अलावा कुछ न खाया हो तो हे यमुने ! हमे उस पार जाने का मार्ग दे दो । गोपियों ने यमुना तटपर जाकर ऐसा ही कहा और पहले की तरह अभी भी यमुना ने उस पार जाने का मार्ग दे दिया । पार जाने पर सोचने लगी की देखो झूठों का बाजार कैसा गरम है । भगवान कृष्ण झूठे, उनकी १६१०८ रानियाँ और एक एक से दश-दश सन्तान और वे बाल ब्रह्मचारी बन बैठे हैं । इधर सबकी सम्पूर्ण मिष्ठान्न, पकवान खागये फिर भी वे पूरा उपवासी बन बैठे हैं । जितना था वह भोग सब खा गये हमारे लिये, बच्चों के लिये प्रसाद तक भी नहीं छोड़ा और कहते हैं हम ने कुछ नहीं खाया है, और यह निगोड़ी यमुना भी झूठी है जो इन दोनों की गवाही दे रही है ।

गोपियाँ भगवान कृष्ण के आधिदैविक रूप की उपासना कर रही थी । मायामय रूप के उपासक थी । वे भगवान के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पायी थी । गोपियों को जब भगवान के स्वरूप का ज्ञान हुआ तब उन्होंने जाना की कृष्ण बाल ब्रह्मचारी है, क्योंकि आत्मदेश में कुछ हो ही नहीं रहा है । न मैं कुछ बोल रहा हूँ न तुम कुछ सुन रहे हो ।

देखो ! तुम लोग घर से कथा सुनने का भाव लेकर चले, रास्ता पार किया कथा में, प्रवचन में आकर बैठे तबतक सब परभाव में हुआ और सुनने का मौका आया तो परभाव निकल गया स्वभाव में बैठे हो और जब प्रवचन समाप्त हुआ, कथा बन्द हुई तो फिर परभाव में आगये । किसीने पूछा था आते समय कहाँ जा रहे हो ? तब कहा था प्रवचन सुनने, कथा सुनने जा रहे हैं, घर लौटते समय किसीने फिर पूछा कहाँ गये थे ? तो कहा कथा सुनने गये थे । तो घर से निकलते समय जो विकल्प था परभाव का, कथा सुनने का अब घर जाते समय फिर पहले वाला विकल्प आगया । तो कभी तो परभाव मरजाता है । आत्मभाव में मर जाता है, स्वभाव में मर जाता है । तो जो जी-जी कर मरे वह परभाव है । जो न जीये और न मरे वह स्वभाव है ।

स्वभावे ब्रह्म ब्रह्माणि - योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ।

अरे भैया ! जैसे हो वैसे ही रहो । 'पर' मत बनो । 'स्व' तो स्वतः हो । आनन्द की अनुभूति तो स्वभाव में ही होती है । 'आत्मा ही आनन्द स्वरूप है ।' '**आनन्दो ब्रह्म**' , '**रस वै सः**'। '**राम सच्चिदानन्द दिनेशा**' । परभाव में आनन्द की अनुभूति नहीं होती ।

जिसको तुम भूल गये उसकी याद कौन करे ।
और जिसको तुम याद हो, वह और किसे याद करे ।।

'मैं हूँ' यह याद है या नहीं तुमको ? तो अब अपना ही चिन्तन करने की क्या जरूरत ? याद व भूल किसी दूसरे की हुआ करती है । जिसको तुम सदा जानते हो कि मैं हूँ फिर मैं और किसे याद करूँ । तो मैं आत्मा हूँ, यह स्वभाव है ।

मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, मैं अमुक हूँ यह परभाव है । किसी वस्तु के

अनुभव काल में मैं आत्मा हूँ यह भी स्मरण नहीं रहता, केवल स्वभाव रह जाता है ।

स्वभाव के सिवाय मनभाव, चित्तभाव, अहंकार भाव, देहभाव, जीवभाव, ब्रह्मभाव, आत्मभाव, परमात्म भाव आदि कोई भी भाव नहीं रहता है । तो यह स्थिति क्या तुमको बनाना पड़ती है ? यह जो स्वभावतः है बिना प्रयास के सबका सिद्ध है । सबको करतल गत है । बस इसी सहजावस्था का हम बोध करा रहे हैं ।

जिसके चिन्तन में सिरपर बोझा लगे, चिन्ता पैदा हो, स्थान, आसन, समय खोजना पड़े वह चिन्तन स्वभाव का चिन्तन, भगवत् चिन्तन नहीं है वह पर का चिन्तन है । जिसके चिन्तन में सर हल्का हो जाय । किसी किस्म का भार न रहे वास्तव में वही भगवान का, आत्मा का, मैं का चिन्तन है ।

प्रायः साधकों को यह चिन्तन लगा रहता है कि ध्यान में बैठना है, चिन्तन करना है, शरीर को शुद्ध करना है, दो घंटे बैठना है । इस उपदेश को मानने वाले बहुत ही है । बिना कष्ट किये भगवान नहीं मिलते । सभी महात्मा करने का उपदेश करते हैं । साधु, संन्यासी, गृहस्थ, विरक्त सभी का यही उपदेश है । वेदान्त में तो कुछ न करने का मार्ग बताया जा रहा है । बिना कुछ किये भगवान नहीं मिलता यह भगवान की तरफ का निश्चय है या जीव की तरफ की घोषणा है ? क्या भगवान् भी अपना चिन्तन करेगा ?

यह तुम्हारा सौभाग्य है कि आत्म चिन्तन के लिये कुछ करने की जरूरत नहीं है । बशर्ते है कि हम अपने आत्म स्वरूप को सद्गुरु के द्वारा अच्छि प्रकार से जानले ।

जबतक तुम्हारी जीव बुद्धि है तब तक तो मरने तक साधन,

भजन, पूजन बंद हो ही नहीं सकते । क्योंकि जीव का सन्तोष इसी बात में है कि वह कुछ ना कुछ करता ही रहे । जीव यदि अपने अहंकार को जीवित रखना चाहे तो कुछ करते रहो । करना ही तो जीव की जिन्देगी है । न करने से तो जीव मर जाता है और न करने से ही जीव भगवान हो जाता है । अब जो तुम्हे होना है बनना है वह निश्चय करलो । जीव बनने में सुख शान्ति है या नहीं इसको तो तुम स्वयं आज तक के साक्षी हो ही एवं भगवान में शान्ति है ऐसा मानते हो तो तुम भगवान तो हो ही ।

यदि अज्ञानी यह निश्चय करले कि मैं भगवान हूँ तो इससे बड़े-बड़े अनर्थ कार्य भी हो सकते हैं । बुरे काम होने की ज्यादा सम्भावना है । क्योंकि उस आत्मभाव, द्रष्टाभाव में रहकर बुरे काम करने में डर भी नहीं रहेगा । अभी तो जीव बुरे कर्म करने में डरता भी है ।

यदि साक्षात् नारायण, भगवान्, आत्मा मैं हूँ यह भाव होने पर पाप कर्म कभी नहीं हो सकेंगे । जब जीव ही पाप कर्म करने से डरता है तो क्या परमात्मा पाप कर्म करने की इच्छा करेगा ? पहले इस आत्मभाव को प्राप्त करलो फिर बुरे कर्म करने का विकल्प उठें तब हमारे पास आकर शिकायत करना ।

खुद सिवा जब कुछ नहीं, संसार कहना जुर्म है ।
खुद बिना हस्ति खुदा की, कभी टिक सकती नहीं ।।

जब मिलगई सागर में, फिर नदी कहना जुर्म है ।
मैं ब्रह्म हूँ जब ये जाना, फिर जीव मानना जुर्म है ।।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पांचों विषयों के ग्रहण काल में कर्ता, कर्म, क्रिया इस त्रिपुटी का अभाव रहता है, कारण यह है कि कर्ता, कर्म, क्रिया मन कल्पित है । और विषय अनुभव काल में मन नहीं

रहता । उस समय अमनस्क स्थिति रहती है । क्योंकि मन परभाव में पैदा होता है । स्वभाव, आत्मभाव, मैं भाव में तो मन नाम की चीज ही नहीं रहती ।

साधन करने से मन का लय होता है । नादानुसंन्धान से मन तत्काल लय हो जाता है । साधनों द्वारा मन निरोध कर सकते हैं किन्तु साधनों द्वारा मन का अमन नहीं होता । अमन कहते हैं मन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाये । मन की हस्ति (वजुद्) ही मिट् जाये । इसको अमन पद या अमनस्क पद कहते हैं । अमन कहते हैं आत्मा को, आत्मा में मन नाम की कोई हस्ति नहीं है । जब मन नहीं है तो मन कल्पित प्रपंच भी मुझ अखण्ड, व्यापक, निर्विकार आत्मा में नहीं है । इसलिये आत्मा को अमन या अमनस्क पद कहते हैं ।

मन को अमन करने का साधन नहीं है । मन तो उसी समय अमन होता है जहाँ अपने स्वरूप में स्थित हुआ तो मन अपने आप अमन हो जाता है । तो स्वरूपस्थ मन कब होता है ? प्रश्न ही गलत है । मन स्वरूपस्थ सबका, सर्वदा रहता ही है । सारा चराचर स्वरूपस्थ है । मगर स्वरूपस्थता की अनुभूति नहीं होती । स्वरूपस्थता का अनुभव करने के लिये मन को अमन किया जाता है । स्वरूपस्थता का अनुभव करने के लिये साधक बिना सोचे समझे मन निरोध, या मन लय करने में लगजाते हैं ।

मन के निरोध करने का विकल्प यह परभाव का है । आत्म देश में तो मन नाम की चीज ही नहीं । योग दर्शन में सूत्र मिलता है -

‘**योगश्चित वृत्ति निरोधः**’ - चित्त वृति का निरोध करना ही योग नाम से कहा जाता है । क्यों चित्त वृत्ति का निरोध किया जाता है ? तो कहते हैं ‘**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**’ ।

तो मन का निरोध करूँ यह विचार ही अविवेक का है । मन को स्वरूपस्थ करना नहीं है वह तो पहले से ही स्वरूपस्थ ही है । तरंग को जल में स्थित क्या करना है, वह तो पहले से ही जल स्वरूप ही है । स्वरूपस्थ हूँ इसका क्या प्रमाण ? स्वरूपस्थता प्राप्त करने की अज्ञान में ही तो विकल्प होता है ।

श्रुति कहती है - आँख खोलने व बन्द करने में भी जिसको आलस्य मालुम पड़ता हो उसे आलस्य धुरीण पुरुष कहते हैं । संसार में वही सुखी है ।

वेदान्त का प्रवक्ता आलस्य धुरीण पद का प्रवक्ता होता है । क्योंकि वह बतायेगा मन का निरोध मत करो, मन को रोको मत्, जाने दो, जबकि दूसरे मार्गी सन्त कहते हैं मन को रोक, मत जाने दो, अर्ध विराम का अन्तर है ।

मन का निरोध मत करो क्योंकि तुम्हारे किये वह होगा भी नहीं । युग-युग वीतगये मन को रोकते-रोकते क्या आज तक किसीका मन रूका ? नहीं । साधक साक्षी है और भिन्न-भिन्न साधन करके देख लो शायद आपके बल से रुक जाये ।

मन के निरोध से मन कुछ समय के लिये रूक जाता है किन्तु मन अमन नहीं होता । मन बना ही रहता है । मन का अस्तित्व समाप्त नहीं होता । साधन कालतक ही मन निरोध होता है । साधन से उठने पर मन फिर ज्यों का त्यों चंचल हो जाता है । इसको न रोका जाये तो यह रूकता नहीं । तो मन को अमन करने का यही एक साधन है कि इसको मत रोको ।

अभि तक तो मन को रोकने का साधन किया है और रोकने से कितनी सफलता मिली है इसके तुम साक्षी हो । तो अब हमारी बात

मानलो अब मन को न रोको ।

तो क्या मैं मन के निरोध के पहले ही स्वरूपस्थ हूँ ? हाँ, मगर अपनी स्वरूपस्थता का अज्ञान है, और इसी अज्ञान के कारण स्वरूपस्थ करने के लिये मन का निरोध किया जाता है । तो स्वरूप आत्मा में, अपने आप में तो 'मैं' पहले से ही स्थित हूँ ।

मन न रोकोगे तो मन नहीं रहेगा । रोकने की चेष्टा करोगे तो मन रहेगा और मन के न रहने पर तो प्रत्यक्ष अनुभव करोगे की मैं स्वभावतः स्वरूप में स्थित हूँ । मन के क्षण भर के रुक जाने से स्वरूप की झलक तो आती है मगर वह क्षणिक ही रहती है । इसलिये स्वरूपस्थता मन के अनिरोध में ही निहित है । क्या प्रमाण है ?

स्वरूपस्थता से मन का अनिरोध होता है और अनिरोध से स्वरूपस्थता की अनुभूति होती है । स्वरूपस्थता से स्वरूप में स्थित होने पर मन का अनिरोध होता है यानी मन को निरोध करने का विकल्प नष्ट हो जाता है फिर उसको यह विकल्प नहीं उठता की मन का निरोध करो । और मन को न निरोध करने पर, मन को न रोकने पर, स्वरूपस्थता की अनुभूति होती है क्योंकि मन को न रोकने पर मन अमन हो जाता है ।

अभी जो यहाँ प्रवचन सुनरहे हो यह मन निरोध करके बैठे हो एवं आनन्द ले रहे हो या मन अनिरोध ? मन के अनिरोध में ही तो तुम्हारे प्रत्येक कार्य प्रातः बिस्तर से उठते ही रात्रि पुनः शयन करने के कार्य ठीक ठीक् होते रहते हैं । घर का, आफिस का, दुकान का, रेल्वे का, बस स्टाण्ड का, मार्केटिंग करने का, खाने-पीने का, लेन-देन का सभी कार्य आप ठीक ठीक करलेते हैं या भूल जाते हैं ? खाने-पिने की सामग्री, गलत चिज मुहँ में डाल लेते हैं क्या ? किसी अन्य घर में घुस जाते हैं क्या ? व्यवहार काल में किसीने कभी नहीं कहा की हमारा मन खाते, पीते, चलते

चंचल होता है । तो संसार के तुम्हारे जितने भी कार्य होते हैं मन के अनिरोध में ही तो होते हैं । परेशानी तुम खड़ी कर लेते हो मन के निरोध करने की ।

अब यह विचारो कि मन को न रोकने के लिये भी कुछ साधन करना पड़ता है क्या ? नहीं । अगर तुम भगवान, आत्मा स्वरूपस्थ न होते तो प्रत्येक कार्य करने के पहले मन को समझा बुझाकर कार्य करना पड़ता तो यह अनुभव करो की तुम स्वभावतः स्वरूपस्थ हो । अन्तर इसी बात की है कि इस सहज स्वयंसिद्ध स्वरूपस्थता का बोध नहीं है और स्वरूपस्थ होने के नाते तुम्हे किसी कार्य करने के पहले मन को रोकने की न याद आती है न जरूरत पड़ती है । अगर तुम भगवान् आत्मा स्वरूपस्थ न होते तो किसी भी कार्य करने के पहले मन को रोकने बैठते, मन को मनना पड़ता की भैया ! थोड़ी देर रुकजा, यहीं बैठना मैं लेट्रिन्, बाथरूम् से कुछ देर में आरहा हूँ । देख भैया ! मुझे भीतर छोड़ तू कहीं चला मत जाना, अन्यथा मुझे लेट्रिन्, बाथरूम से कौन बाहर लायेगा । बोलो क्या ऐसे मन से प्रार्थना करना पड़ता है, कि सहज सब काम हमारे होते चले जाते हैं ।

स्वरूपस्थता ही तो भगवान् आत्मा का निरन्तर चिन्तन है । अब कौनसा काम रहगया बाकी जिसके लिये मैं मन को रोकने की झंझट में पड़ूं ?

मन मानकर ही मन को रोकने का प्रयास करते हो कि जानकर ? मानकर । मन है ऐसा मानकर ही तो तुम मन को रोकने का प्रयास करते हो और अब मन रोका नहीं जाता, चला जाता है तो आप ही रहजाते हैं देखनेवाले । 'है' ही रहजाता है । मन को न रोका जाय तो फिर 'है' रहजाता है । अस्तित्व, 'है' अगर न हो तो मन मानोगे किसको ? कोई ना कोई तो विकल्प का आधार होना चाहिये । मन का विकल्प अपने आप पर

ही करते हैं । जैसे रस्सी आधार न हो तो सर्प का विकल्प किस पर आरोपित कर सकोगे ?

मन का अनिरोध ही तो अनभ्यास है । मन को रोककर जो किया जाये उसका नाम अभ्यास है । और मन को न रोककर किया जाये उसका नाम अनभ्यास है । और अनभ्यास ही भगवान् आत्मा का सतत चिन्तन है । मन को रोकने, मन का चिन्तन करना, मन का स्मरण करना ही मन को पैदा करना है । सत्ताहीन को, अस्तित्वहीन को सत्ता देना है ।

अब एक प्रश्न होता है कि जब संसार के प्रत्येक जीव स्वरूपस्थ है एवं उनके सभी कार्य स्वरूपस्थता में ही होते रहते हैं तो फिर प्रवचन सुनाने की, ध्यान में बिठाने की क्या जरूरत ? अरे भैया ! कोई जरूरत नहीं है । तुम रोग से दुःखी हो, दर्द से चिल्ला रहे हो तो उपचार की, डाक्टर की जरूरत है अन्यथा स्वस्थ व्यक्ति के लिये दवा, डाक्टर, हस्पिटाल् जाने की कोई जरूरत नहीं है । अगर यह आत्मभाव तुमको जम जाए, तुम किसी भी परिस्थिति में इस स्वरूपस्थता से हठ देहभाव में न उतरो तो कोई जरूरत नहीं । इस स्वरूपस्थता को जमाने के लिये, अनुभव कराने के लिये ही जरूरत है ।

अगर तुम प्रपंच से, गृहस्थ से, चिन्ता से अलग हो, आगे पीछे कोई रोनेवाला नहीं है, कोई पीण्ड पानी देनेवाला नहीं है । मरने के पहले सबका क्रिया कर्म कर सकते हो तो ध्यान में बैठने की कोई जरूरत नहीं है ।

जो बड़े-बड़े वीतराग महात्मा है,संकल्प विकल्प से रहित जिनका मन है, जो अमन लोग है और वैराग्य की मस्ती में रात-दिन घूम रहे हैं । संसार जिनकी दृष्टि में है ही नहीं न जीने की खुशी है न मरने का गम् है ऐसे मस्ताने, फकीर, शहनशाहा, मुर्सद, ध्यान में बैठे या न बैठे कोई अन्तर

नहीं पड़ता उनके लिये ।

मगर भैया ! तुम गृहस्थ लोग रात दिन प्रपंच में रहते हो । आज कोई तुम्हारा जन्मता है तो कल तुम्हारा कोई मरता है । आज बन रहे हो, क्योंकि धन सम्पती अपार है और धन सम्पत्ति चली गई तो कल दिवाला निकल रहा है, चोरी, डकायती हो गई ये बवन्डर तूफान तो एक ऊपर एक चढ़कर आते ही रहते हैं और तुम्हे संसार से वैराग्य है नहीं । बवन्डर में उड़ जाओगे, खा मरोगे, डूब मरोगे, जल मरोगे, कट मरोगे, लटक मरोगे तो इसके बचाव के लिये प्रतिदिन कुछ समय अनभ्यास करना बहुत जरूरी है । रात दिन जो सुन रहे हो उसे कार्यान्वित करो । नहीं तो बद्धज्ञानी रहोगे । तोता रटन्त ज्ञानी रहोगे । टेप रेकार्ड व ग्रन्थ में सब ज्ञान भरा है किन्तु मुक्त कौन होगा ? जो उस ज्ञान को जीवन में धारण करेगा ।

तुम लोग गृहस्थ हो, तुम्हारे बीच में ही हम प्रचार करते हैं । गृहस्थ दयनीय होते हैं, कितनी-कितनी मुसिबतें बेचारे झेलेते हैं और इतनी मुसिबत झेलते हुए भी सत्संग में, आश्रम में, तीर्थ में जाते हैं । जो कुछ बनता वैसा दान पुण्य भी करते हैं । तो हमारे मन में तुम लोगों के प्रति ज्यादा प्रेम है तो यह जो ज्ञान है जिसका तुमलोग आनन्द ले रहे हो इसका घन्टा, दो घन्टा अभ्यास करना जरूरी है । अभ्यास से ज्ञान की स्थिति परिपाक होती है । तो अनभ्यास करोगे तो यह स्थिति परिपाक हो जायेगी । फिर हर बवण्डर में, झंझटों में एकरस साक्षी की स्थिति रह जायेगी । फिर हम और महात्माओं, गुरुओं की तरह कुछ करने को तो बता नहीं रहे कि इस मन्त्र का एक लाख बार जप करना, इसकी ग्यारह माला करना, रोज यज्ञ, योग करना । जो विरक्त है उनके लिये वैराग्य साधन है, स्थिति परिपाक करने के लिये और गृहस्थों के लिये अनभ्यास का अभ्यास साधन है ।

पक्षी के उड़ने के लिये जैसे दोनों पंख की जरूरत है, इसी तरह मुमुक्षु पक्षी को मोक्ष धाम पहुंचने के लिये स्वरूप ज्ञान और वैराग्य दोनों चाहिये ।

मुझ भगवान् आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है । मैं सर्व हूँ । विषयों से वैराग्य, संन्त महात्माओं के प्रवचन, कथा सुनने से आजाता है- आत्मा नित्य है, संसार अनित्य है । बारम्बार विचार करने से विषयों से चित्त का खिन्न हो जाना, ग्लानी हो जाना यह अपर वैराग्य है किन्तु उन-उन विषयों का हृदय में अस्तित्व बना रहता है । इस वैराग्य से गिर जाने का भय रहता है ।

लोग घर छोड़ते हैं, साधु संन्यासी बनते हैं, प्रतिज्ञा करके घर छोड़ते हैं कि हम किसी के आगे हाथ नहीं फैलाएंगे । भूखे,नंगे पेड़ के नीचे सो जाएंगे धन की याचना नहीं करेंगे यह प्रतिज्ञा करके घर से निकलते है । मगर भगवान की माया विचित्र है, वो वैराग्य गिर जाता हैं । मठ,आश्रम,धन,सम्पति,मोटर, बंगला, शिष्य शिष्याओं का बाजार लगा लेते है ।

जानिय तबहि जीव जग जागा ।
जब सब विषय विलास विरागा ।।

(यह अपर वैराग्य है)

कहिय तात सो परम विरागी ।
तृण सम सिद्धि तीन गुण त्यागी ।।

(यह पर वैराग्य है)

रास्ते में पड़े तृण कुचलते हुए बिना मुल्य दिये चले जाते हैं । इस प्रकार जिनका मन संसार के भोगों के प्रति विरक्त, अनासक्त हो चुका

है वे ही वास्तव में वैराग्यवान् है, वे ही मोक्षगामी है ।

यहाँ प्रपंच के अस्तित्व का ही त्याग हो गया । जिस संसार को छोड़कर मैं निकला था वह तीन काल में भी नहीं है । एक पंख तो यह हो गया वैराग्य का, अब दूसरा पंख ज्ञान का कैसा है ? अपने मैं आत्मा को कुछ न मानकर 'मैं' को 'मैं' ही जानना यह ज्ञान का दूसरा पंख है । इन दोनों पंखों से मुमुक्षु मोक्षधाम को पहुँच जाता है । इसलिये इन दोनों पंखों को मजबूत, सुरक्षित रखने के लिये अनभ्यास करना जरूरी है । तो मैं आत्मा अमनस्क हूँ ।

सत्य आत्मा के बोध हो जाने पर यह मन संकल्प नहीं करता तो संकल्प रहित होते ही अमन पद को प्राप्त हो जाता है । और ग्रहण त्याग से रहित हो जाता है ।

मन को न रोको तो मन को न रोकने पर मन फिर है ही कहाँ जो संकल्प और विकल्प करें । मन के रोकने पर तो संकल्प विकल्प है । और न रोकने पर यह मन संकल्प-विकल्प रहित होकर अमनस्क पद जो मैं हूँ, आत्मा को प्राप्त हो जाता है । फिर न ग्रहण रह जाता है न त्याग रहजाता है । तो अनभ्यास का अभ्यास इसलिये समझा रहे हैं ।

मैं स्वरूपस्थ हूँ, स्वरूप में ही स्तिथ हूँ इसका क्या प्रमाण है ? इसके यही प्रमाण है कि विचार के उदय और अनुदय में, संकल्प और विकल्पों के उदय और अनुदय में, मन के आने और जाने में, मन की स्थिरता और चंचलता में जब हर्ष-शोक न हो तब मैं स्वरूपस्थ हूँ । तब समझ लेना की यही स्वरूपस्थता की अनुभूती है ।

क्योंकि मन की चंचलता और स्थिरता में, मन के आने व जाने में, मन के उदय और अनुदय काल में, ग्लानी और प्रसन्नता यानी हर्ष और

शोक तभी होगा जब परभाव में रहोगे । और जब मैं स्वरूपस्थ हूँ तो मन को कहीं जाने-आने में ग्लानी नहीं होती है, उसे रोकने का तुम प्रयास नहीं करते हो और मन जब अपने पास आजाता है तब यदि हर्ष नहीं होता है । बस यही स्वरूपस्थता का प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

जब मन को रोकने के लिये अभ्यास में बैठते हो तब तुम्हें देश, काल की जरूरत होती है कहाँ बैठे ? मगर अनभ्यास के अभ्यास करने हेतु तो किसी विशेष देश, काल, एकान्त की जरूरत नहीं । बाजार में भी बैठ सकते हैं, दूकानदारी कर सकते हैं, युद्ध भी कर सकते हैं क्योंकि प्रपंच होगा तब न हर्ष-शोक होगा ।

एकमेवाद्वितीयंयद् गुर्रोवाक्येन निश्चितम् ।
एतदेकान्तमित्युत्कं न मठो न वनान्तरम् ।।

सद्गुरु के वाक्य द्वारा, जब ऐसा निश्चय होगया कि मुझ आत्मा के अतिरिक्त दूसरी सत्ता है ही नहीं तो फिर यही एकान्त है ।

अब जैसे मेरी ताली की आवाज सुनाई पड़ी, बाहर का कोई तेज आवाज, ध्वनी सुनाई पड़गई तो कोई हानि नहीं, मगर मन उसी शब्द या रूप में विचरने लगजावे तो वह संसार ही है और मन उस आवाज में, रूप में परिणित न हो तो मैं भगवान आत्मा हूँ ।

प्रपचांकार होने पर भी हर्ष-शोक न हो तो वह मन नहीं है वह मैं आत्मा ही हूँ ।

मन प्रपंचकार हो जाने पर ही हर्ष-शोक होता है तो प्रपंचाकार मन न हो उसके लिये वही गोली चलाओ 'मैं हूँ' । शब्द मैं हूँ, स्पर्श मैं हूँ, रूप मैं हूँ, रस मैं हूँ, गन्ध मैं हूँ, संकल्प-विकल्प मैं हूँ, मन, बुद्धि मैं हूँ । **'ओमित्येदक्षरमिदं सर्वम्'** ।

कुछ समय इस प्रकार जहाँ जहाँ मन जावे जिस विषय में परिणित होने लगे वहाँ-वहाँ मैं को ही देखो, क्योंकि मैं ही सर्व रूपों में विद्यमान हूँ । फिर भैया ! तुम्हारे पास कोई जोर जोर से ढोल नगाड़े बजावे उससे तुम्हें ग्लानी नहीं होगी । एकरस स्थिति हो जायगी । मन यदि प्रपंचाकार नहीं होता है, तुम्हारे मन में हर्ष-शोक नहीं हो रहा है तो फिर वहाँ मैं हूँ कहने की भी जरूरत नहीं है । और मन प्रपंचाकार होने लगे तब 'मैं हूँ' की गोली मार उस दृश्य को खत्म करदो एवं उसका द्रष्टा मैं हूँ ऐसा वहाँ देखो ।

अनभ्यास का मतलब किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना मात्र मौन उदासीन साक्षी होकर मन का तमाशा देखते रहना इस साक्षी भाव में प्रतिदिन रोज थोड़ा-थोड़ा ठहरने की चेष्टा करने का नाम अनभ्यास के अभ्यास में बैठना है । घर में इस प्रकार बैठो जैसे किसी अन्य के घर में आप अतिथि ठहरे हुए हैं और उस घर के हानि-लाभ, जन्म-मरण के साक्षी बने हुए है ।

प्राणापानयोर्मध्ये चिदात्मानयुयास्यते ।
मननो मननं यस्य बुद्धेरेकाव बोधनम् ।।

जो मन का मन है, बुद्धि की बुद्धि है । जो प्राण और अपान के मध्य में बैठा है उस चिदात्मा, साक्षी, ब्रह्म की हम उपासना करते हैं वही हमारा आराध्यदेव है, वही हम हैं ।

बाहर से भीतर की और जो सांसलेते हैं जिसे आक्सीजेन कहते है उसका नाम प्राण है तथा भीतर से जो सांस बाहर निकलती है उसे अपान कहते हैं । प्राण भीतर जाकर अस्त होगया अभी अपान होकर बाहर नहीं आया है वायु लौटकर बाहर नहीं आयी है उस मध्य में देखो कौन है ? एक पल भर प्राण को भीतर ही रोककर देखो । हमेशा रोकने की जरूरत नहीं केवल अनुभव करने के लिये एकबार बस करके देखो, यह तो तुम्हें

निर्विकल्प अवस्था का, निर्विकल्प स्वरूप का अनुभव कराने के लिये बता रहे हैं । बिल्कुल संकल्प रहित अवस्था है । यह सनातन ब्रह्म तुम्हारा हमारा सबका अपना स्वरूप आत्मा है । यह भी आत्म चिन्तन का, आत्म साक्षात्कार का एक प्रकार, एक विधि है । इसमें प्राण, अपान कुछ नहीं रोकना पड़ता है, प्राण वायु तत्काल स्थिर हो जाती है । मध्य में जो ब्रह्म का ध्यान है यही सन्ध्या है । इसी आत्म पद को जानकर मानव जीवन सफल होता है । स्वयं ही इसका अनुभव करोगे तब जान सकोगे ।

●●●